श्रीभागवत कुञ्ज ग्रन्थ पुष्पाञ्जलि का
प्रथम पुष्प

वेदस्तुतिः

भाषानुवादक—
श्रीव्रजवल्लभशरण, वेदान्ताचार्य

श्रीशुक मुनि वन्दना

★

स्वसुख निभृत चेतास्तद् व्युदस्तान्य भावोऽ-
प्यजित रुचिर लीला कृष्ट सारस्तदीयम् ।
व्यतनुत कृपया यस्तत्व दीपं पुराणं
तमखिल वृजिनघ्नं व्यास सुनुं नतोऽस्मि ॥

(श्रीमद्भागवत १२।१२।६८)

* जय श्रीराधे *

श्रीभागवत कुञ्ज ग्रन्थ पुष्पाञ्जलि–प्रथम पुष्प

जगद्विजयी श्रीकेशवकाश्मीरी भट्टाचार्य कृत–

श्रीकृष्ण-तत्व प्रकाशिका टीका सहित–

वेदस्तुतिः
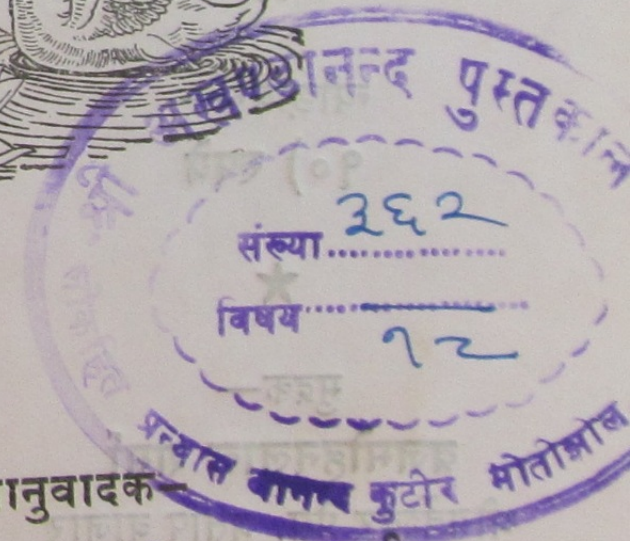
भाषानुवादक–
श्रीव्रजवल्लभशरण वेदान्ताचार्य

प्रकाशक—
पं० वृन्दावनबिहारी मिश्र
श्रीभागवत कुञ्ज, प्रताप बाजार
श्रीवृन्दावन (मथुरा)
उ० प्र०

प्रकाशन तिथि—
रक्षा-बन्धन
सम्वत् २०४३

प्रथमावृत्ति—
१००० प्रतियाँ

न्यौछावर—
१०) रुपये

मुद्रक—
व्रजमोहनलाल शर्मा
श्रीसर्वेश्वर प्रेस, प्रताप बाजार
वृन्दावन (मथुरा)

समर्पण

जिनकी सत्प्रेरणा ज्ञान से
चमका मेरे मन का दर्पण।
उन सरस्वतीदेवी जननी की
पूजा में प्रथम समर्पण ।।

समर्पक—
वृन्दावनबिहारी

प्रकाशकीय

★

नमस्तस्मै भगवते कृष्णायामल-कीर्तये ।
यो धत्ते सर्वभूताना मभवायोशतीः कलाः ।।

(भा० १०।८७।४६)

श्रीमद्भागवत महापुराण प्रत्यक्ष श्रीकृष्ण का स्वयं स्वरूप है। यह सर्वमान्य है। श्रीमद्भागवत मुक्तिदान का अपूर्व उद्-घोषक महापुराण है। अन्य पुराणों के अध्ययन से कभी-कभी बुद्धि में भ्रम भी पड़ सकता है। श्रीमद्भागवत पठन से सर्व संशय निर्मूल हो जाते हैं। श्रीमद्भागवत की कथा जिस स्थान पर होती है वह स्थान तीर्थ जितना पवित्र हो जाता है, वहाँ की रज मस्तक पर लगाने से दुर्वासनारूप पाप दूर होते हैं क्योंकि वह वैष्णव पद धूलि है।

वेदोपनिषदां साराज्जाता भागवती कथा ।

(भा० मा० २।६७)

सर्व-वेदेतिहासानां सारं सारं समुद्धृतम् ।
स तु संश्रावयामास महाराजं परीक्षितम् ।।

(भा० १।३।४२)

सर्व-वेदान्त-सारं यद् ब्रह्मात्मैकत्व-लक्षणम् ।
वस्त्व द्वितीयं तन्निष्ठं कैवल्यैक प्रयोजनम् ।।

(भा० १२।१२।१२)

निगम कल्पतरोर्गलितं फलम् । (भा० १।१।१)

श्रीमद्भागवत के अनेक स्थलों में श्रीमद्भागवत को वेद पुराण उपनिषदों का सार स्वीकार किया है। पाठ करते समय जब वेदस्तुति का प्रसंग आया तो वहाँ भी लिखा मिला—

इत्यशेष-समाम्नाय पुराणोपनिषद्रसः ।
समुद्धृतः पूर्व-जातैर्व्योम-यानैर्महात्मभिः ।।

(भा० १०।८७।४२)

पढ़कर इच्छा हुई, वेदस्तुति की कोई विशद व्याख्या हो। श्रीमद्भागवत की सप्ताह कथा कहना ही मेरी सेवा वृत्ति है। श्रीभागवत सप्ताह की कथा हो रही थी। एक प्रेमी भक्त ने एक प्रति वेदस्तुति श्रीकृष्णतत्व प्रकाशिका टीका जो श्रीनिम्बा-र्काचार्य श्रीआचार्य केशवकाश्मीरीजी के द्वारा की गई है। मुझे भेट की, देखकर बड़ी प्रसन्नता हुई। स्वयं श्रीनिम्बार्क सम्प्रदाया-नुयायी होने के नाते मेरी इच्छा हुई कि यह ग्रन्थ अप्राप्य या दुर्लभ हो गया है इसे पुनर्मुद्रण कराया जाय साथ ही यह विचार भी हुआ कि इस हिन्दी प्रधान युग में यदि इस टीका की भाषा-टीका भी हो जाय तो हिन्दी प्रेमियों का विशेषकर निम्बार्क-सम्प्रदायी वैष्णवों का बड़ा हित हो सकता है। अन्य विद्वानों को भी इस दुर्लभ टीका का आनन्द मिल सकेगा।

परन्तु इस दुर्गम कार्य को कोई निम्बार्क-सम्प्रदायी विद्वान् करें तो श्रीआचार्य केशवकामीरीजी के सिद्धान्त स्पष्ट हो सकते हैं। यह विचार मैंने श्री श्रीजी कुञ्ज के प्रधान अधिकारी सम्प्र-दाय में ज्ञान वयोवृद्ध श्रीव्रजवल्लभशरणजी वेदान्ताचार्य पंचतीर्थ महानुभाव से प्रकट किये। प्रभु कृपा से उन्होंने हिन्दीभाषार्थ करना सहज स्वीकार कर लिया। लेखन कार्य प्रारम्भ हो गया। श्रीअधिकारीजी के अधिकार में सम्प्रदाय कार्य श्रीजी कुञ्ज का व्यवस्था-कार्य (मुकदमा मामला आदि) चला स्थान का प्रबन्ध निर्माण आदि कार्य बाहुल्य से लेखन कार्य अविराम सविराम चलता रहा। समय बढ़ता देख मैंने श्रीअधिकारी के समक्ष सुझाव रखा कि आप बोलते जावें और मैं लिखता जाऊँ, परन्तु इन लेखन

शूर महानुभाव ने स्वीकार नहीं किया औरकहा—सब काम शनैः-शनैः पूर्ण हो जायगा। लिखना तो मुझे अपने हाथों ही है। हाँ, मुझे स्मरण दिलाने तुम प्रतिदिन कम-से-कम एक बार मेरे पास आते रहो, ताकि मैं लिखता रहूँ।

मेरा नियम प्रति प्रभात श्रीयमुना स्नान का है। यमुना स्नान से लौटते समय श्रीअधिकारीजी से मिलने का नियम जैसा बन गया। पौष माघ के उत्कट शीतकाल में भी प्रातः श्रीयमुना से वापस आते समय श्रीअधिकारीजी से मिलता रहा। वह लिखते रहे, पुस्तक छपती रही। सभी खरीदे कागज छप चुके थे पुनः कागज खरीदा गया। मैंने पूछा—महाराज! अभी कितता और लिखेंगे तो बोले, हमारी लेखनी रोको मत, जितना लिखना है, लिखेंगे।

कभी श्लोक की सङ्गति बिठाने में कई-कई टीकाओं का अवलोकन करने में, भाव स्पष्ट करने से महाभारत या शब्दकोष से शब्द सिद्ध करने में कई-कई दिन, कई-कई हफ्ते भी बीतते चले गये, अनेक उलझनों को सुलझाते हुए श्रीकृष्ण तत्व प्रकाशिका टीकार्थ श्रीअधिकारीजी महाराज ने पूर्ण करके पाठकों को सुलभ करा दिया। श्रीभागवत स्वरूप भगवान की परम कृपा है, जो वेद-स्तुति रूप में दर्शन दे रहे हैं।

मैं श्रीअधिकारीजी महाराज का हृदय से आभार प्रकट करता हूँ कि जिन्होंने श्रीभागवत कुञ्ज के प्रथम सुमन रूप में वेद-स्तुति टीकार्थ को विकसित किया इस वेद-स्तुति दिव्य सुमन की गन्ध से सज्जनों के हृदय सुवासित होंगे।

यह भी विश्वास है कि श्रीभागवत कुञ्ज के प्रथम सुमन वेद-स्तुति की दिव्य सुगन्ध प्रेम पराग लेने को आनन्द रूप भ्रमर बनकर साक्षात् श्यामसुन्दर पधारेंगे।

पाठकों को वेद-स्तुति पढ़ने से यत्किंचित भी आध्यात्मिक आनन्द लाभ हुआ तो मेरा यहप्रयास सफल होगा और श्रीभागवत कुञ्ज के अन्य दिव्य सुमन विकसित करने में प्रेरणा मिलती रहेगी।

॥ कि मधिकम् ॥

आषाढ़ रथयात्रा सं० २०४३
तारीख ९ जुलाई १९८६
बुधवार

विदुषां वशंवद
आ० श्रीवृन्दावनविहारी मिश्र
भागवत भूषण
श्रीभागवत कुञ्ज, प्रताप बाजार
वृन्दावन मथुरा (उ० प्र०)

* भूमिका *

卐

श्रीकेशवकाश्मीरी भट्ट निम्बार्क सम्प्रदाय के विद्वानों में मूर्धन्य थे। इन्होंने श्रीमद्भागवत की टीका की रचना की थी, किन्तु दुर्भाग्य वश अब वह उपलब्ध नहीं है केवल दशम स्कन्ध को वेद-स्तुति की व्याख्या ही उपलब्ध है।

जन्मस्थान—

श्रीकेशवकाश्मीरी जी का जन्म वेदूर्य पत्तन नामक स्थान में हुआ था। आपने समग्र भारत वर्ष का भ्रमण किया और वैष्णव धर्म की पताका फहराई थी। श्रीमद्भागवत की टीका उज्जयिनी में की। देश में वैष्णवों में प्रचलित शङ्ख-चक्र धारण की विधि लुप्तावस्था में थी वह पुनरुज्जीवित आपने की। भट्टजी के साथ १४००० शिष्य चलते थे। उन दिनों कश्मीर में माँसाहारी लोगों की संख्या बढ़ गयी थी और वे अनेक प्रकार की माया जान गये थे। भट्टजी के शंखध्वनि नाद से यवनों ने उन पर आक्रमण किया और तांत्रिक प्रयोग भी किये जिनसे उनके शिष्य घबड़ा गये, पर आचार्य केशवजी के प्रयोग से यवन भस्म होने लगे और उनका दल भागने लगा। यवनपति के मुख से रक्तधार निकलने लगी। यवनपति का लघु भ्राता जो दुर्घर्ष शासक था उसने अपने तंत्र प्रभाव से चारों तरफ अंधकार कर दिया। भट्टजी ने सूर्य का आवाहन किया और अंधकार हटा दिया तब वह यवन आपकी शरण में आया था।

यहीं से आपने हिमालय यात्रा प्रारम्भ की थी। वहाँ आपने नारद मुनि की प्रतिमा स्थापित की। अन्य प्रतिमाएँ भी स्थापित कीं और ११० वर्ष पर्यन्त वहाँ समाविस्थ रहे।

दशोत्तरसतं वर्षं गिरिदर्यां महामनाः।
ध्यानयोगरतो वासीत् यत्र सन्निहितो हरिः॥

भक्ति का उपदेश—

आचार्य केशवजी भट्ट के समय विद्वानों की नगरी काशी शुष्क-शास्त्रों के ऊहापोह में व्यस्त थी, सांख्य-न्याय-वैशेषिक गुत्थियों में जिनका पूर्णायुष्य निकल जाता था। भट्टजी ने उन्हें शास्त्रों से ही पराजित किया और भगवद्-भक्ति करने का उपदेश दिया था।

ये वै कापिल सांख्यवादनिरताः काणादि नैयायिकाः।
येऽन्ये ऽद्वैत मतान्धकार पतिताः शैवाश्च बौद्धादयः।
नाना तर्क वितर्क कर्कश धियः सच्छास्त्र विप्लावकाः-
स्तान्निर्जित्य पदाम्बुजे भगवतो भक्ति परां प्रादिशत्॥

गंगासागर यात्रा—

श्रीभट्टजी ने गंगासागर यात्रा काशी से की। उस समय सर्व श्रेष्ठ वाहन पालकी था। उसी से आपने यात्रा आरम्भ की थी। बङ्गाल में शाक्त मत का जोर बढ़ रहा था। और कौल-मत के अनुयायी बढ़ रहे थे। भट्टजी ने उन्हें पराजित किया उनके चमत्कारों को ध्वस्त किया। और सत् शास्त्र की स्थापना की।

मथुरा यात्रा—

आचार्य केशवकाश्मीरी ने मथुरा यात्रा की थी। जब नैमिशारण्य में भट्टजी को ज्ञात हुआ कि मथुरा में यवनों ने

अत्याचार किया है और मथुरा वासी बड़े कष्ट में हैं, यहाँ के मन्दिर तो नष्ट किये हैं ही, तलवार के बल पर एवं चमत्कारों से वे हिन्दू धर्म का विनाश करने पर तुले हुए हैं। भट्टजी को जैसे ही यह ज्ञात हुआ वे मथुरा में वर्तमान 'ध्रुवटीला' स्थान पर आकर ठहरे और सब समाचार ज्ञात किया।

यंत्र उद्धार—

विश्रान्ति घाट पर एक यन्त्र यवनों ने लगा दिया था। उसके नीचे से निकलने वाले हिन्दु की शिखा उड़ जाती और यवनों की सी दाढ़ी आ जाती थी जिससे हिन्दुओं ने विश्राम घाट पर आना ही बन्द कर दिया था। आचार्य ने विश्राम घाट पर ही स्नान किया उनके पदार्पण करते ही यवनों का प्रयोग असफल हो गया। उन्होंने स्नान करके ऐसा यंत्र लगाया जिसके प्रभाव से पुरुषत्व ज्ञापक चिह्न नष्ट हो जाते और यवन स्त्री-रूप में परिवर्तित हो जाते ऐसी दशा देखकर यवन आचार्य के चरणों में गिर पड़े तब यमुना जल के मार्जन से उन्हें फिर पुरुषत्व प्रदान किया था।

गुरु—

आपने श्रीगांगल भट्टदेवजी से निम्बार्की दीक्षा ली थी, वैसे आप दर्शन, भक्ति, तन्त्र, पुराण, काव्य आदि शास्त्रों के प्रकाण्ड विद्वान् थे। आपने यमुनाजी का स्तवन किया है, श्लोक बड़े ही सुन्दर हैं ×

त्वत्तीरस्थ कदम्ब कानन लता छाया कुटी वासिभिः।
सद्भिः सार्थं महर्निशं हरिकथा शृण्वन् ब्रुवन् वै मुदा।
कांक्षेऽहं तव तीर सेवन परस्त्वन्नीर पाने रतिं
त्वद् वीचीक्षण सूत्सवं त्वयिमनः स्यान्मे शरीर-क्षयः॥

हे मात यमुने ! मैं तेरे तट के कदम्ब-कानन की छाया में विहरने वाले सन्तों के साथ हरिकथा श्रवण करता, कहता तेरे तीर का सेवन चाहता हूँ और तेरे जल का पान करूँ, तेरी तरङ्गों का उत्सव मेरे मन में रहे। और तुझमें ही मेरे शरीर का क्षय होवे।

वृन्दावन आपका प्रमुख केन्द्र बना था।

समय—

आपका उत्सव ज्येष्ठ शुक्ला चतुर्थी को मनाया जाता है[1], आपके शिष्य श्रीभट्टदेवाचार्य की कृति युगल-शतक की रचना १३५२ विक्रम की है। अतः इनका समय इससे पूर्व १२ वीं शताब्दी माना जाता है।

कृतियाँ—

वेदान्त-सूत्र व्याख्या, कौस्तुभ प्रभावृत्ति. तत्त्व-प्रकाशिका, यमुना-स्तोत्र।

केशवकाश्मीरी भट्ट ने इस टीका के आरम्भ में सनन्दन की वन्दना की है, सनक, सनन्दन ब्रह्माजी के मानस पुत्र थे, और यही द्वैताद्वैत सम्प्रदाय के मूल प्रवर्तक माने गये हैं—

सनन्दन पद द्वन्द्वं भक्तिनम्रैक चेतसा।
प्रणम्य क्रियते व्याख्या ब्राह्म्यौपनिषदी मया॥

श्लोकों के सम्बन्ध बैठाने के लिये विशाल भूमिकाएँ उपनिषद् की हैं। जिनमें ब्रह्म सूत्र, श्रुति, स्मृति, पुराण आदि के वाक्य रत्नों की भाँति जटित कर दिये गये हैं। कहीं बड़े-बड़े समास भी रखे हैं।

१—ज्येष्ठ शुक्ले चतुर्थ्यां वै काश्मीरी केशवः प्रभुः।
अवतीर्णो दिग्विजये यवनेशः निराकृतः॥

'अस्मत् पक्षे' तु लिखकर अपना मत भी उद्धृत किया है। टीका में ब्रह्मसूत्र समन्वय के साथ-साथ द्वैताद्वैत का निरूपण किया है।

समस्त संस्कृत वाङमय में श्रीमद् भागवत महापुराण की रूपरसता सिद्ध है। श्रीमद् भागवत में दशम स्कन्ध के ८७ वें अध्याय में वेद-स्तुति का निरूपण किया है जो वेदांत के बड़े-बड़े ग्रन्थों के परिशीलन से उत्पन्न ज्ञान-राशि को स्वल्प सिद्ध करने में समर्थ है।

श्रीमद् भागवत में स्तुतियों में वेदांत गंगा प्रवाहित है। किन्तु वेद-स्तुति तो अगम्य अगाध पारावार की भाँति है। मीमांसा, न्याय तथा श्रुतियों के ज्ञान के बिना इसका आशय ज्ञात होना क्लिष्ट अवश्य है।

अनेक विद्वानों ने तो केवल वेद-स्तुति पर ही भाष्य किये हैं। अनन्त श्रीविभूषित जगद्गुरु श्रीनिम्बर्क पीठाधिपति केशव काश्मीरी भट्टाचार्यजीकृत श्रीकृष्णतत्त्व प्रकाशिका टीका तत्त्वज्ञों के लिये पठनीय है। विद्वानों के लिये मननीय है। श्रीकृष्ण-भक्तों को वन्दनीय है और सम्प्रदाय के लिए महनीय है।

'भगवान् श्रीकृष्ण' शास्त्र के विषय हैं इसे विद्वान् टीकाकार ने बड़ी दृढ़ता के साथ प्रारम्भ में सिद्ध किया है।

'श्रीकृष्णस्य शास्त्र-विषयत्वं प्रमाणसिद्धम्', लिखकर अपने पक्ष की पुष्टि में वृहदारण्यक, कठोपनिषद्, गोपाल ता० ब्रह्मसूत्र गीता, श्वेताश्वतर०, मुण्डक, यजुर्वेद. आदि के उद्धरण प्रस्तुत किये हैं और जो लोग ज्ञान से मुक्ति प्राप्त होती है' के अनुरागी हैं उन्हें एक गूढ मार्ग बतलाया कि श्रीकृष्ण के ही ज्ञान से मुक्ति है—"श्रीकृष्णस्यैव ज्ञानान्मुक्तिः।" (पृ० ५)

वेदव्यासजी के कथन के साथ उनके पिता मुनि पराशर के वचन उद्धृत करना साभिप्रायः है।

द्वैताद्वैत—

आचार्य निम्बार्क के द्वैताद्वैत सिद्धान्त का विवेचन प्रायः उपनिषदों के प्रमाणों से पुष्ट किया है यथा—

"उभयावस्थं त्वां भिन्नाभिन्नत्वेन प्रतिपादयेदित्यर्थः"

अर्थात् भिन्नाभिन्न (भेदाभेद या द्वैताद्वैत) दोनों सम्बन्ध नित्य है।

श्रीसर्वेश्वर का प्रतिपादन भी श्रुति समुदाय द्वारा सिद्ध किया है। अनुवाद के साथ विद्वान् टीकाकार ने कहीं-कहीं सारगर्भित टिप्पणियाँ भी दी हैं जिनमें विषय स्पष्ट हो गया है।

वेद-स्तुति में श्रुतियाँ—

श्रीमद्भागवत में पद-पद पर श्रुतियाँ हैं, दशम स्कन्ध वेद स्तुति तो सार्थक नाम ही है।

'दृतय इव' श्लोक में पेंगी श्रुति है।

विशेषतः वेद-स्तुति के पद्यों में हिरण्य नाम श्रुति, कमठ श्रुति शाण्डिल्य श्रुनि, कलाप श्रुति, कौटल्य श्रुति, महोपनिषद इन्द्रद्युम्न श्रुति, माठर श्रुति, मालवेय श्रुति, प्रश्नोपनिषद मुण्डक श्रुति, आथर्वण श्रुति, कैवल्योपनिषद् आदि श्रुतियाँ हैं।

श्रीव्रजवल्लभशरणजी वेदान्ताचार्य निम्बार्क सम्प्रदाय में विशिष्ट सम्माननीय और संस्कृत साहित्य के मूर्धन्य विद्वान् हैं। आपके द्वारा किये अनुवाद की प्रामाणिकता में कोई संशय नहीं है।

डा० वासुदेवकृष्ण चतुर्वेदी, सप्ताचार्य
प्र० सम्पादक–ब्रजगन्धा संस्कृत-त्रैमासिक
रामाश्रम कृष्णापुरी, मथुरा

प्रस्तावना

★

श्रीराधया सह मनोहरतां गतो यः
सर्वेश्वराद्यभिधया प्रथितोऽस्ति लोके।
यो वाञ्छितं झटिति राति समादृतो यः
तस्मै नमो भगवते व्रजवल्लभाय ॥१॥
प्रस्तावनां श्रुतिवचांसि विचार्य्य दैवात्
सम्प्रेरितो लिखति कोऽपि यदीयभृत्यः।
पूर्ति करिष्यति यथार्थ रहस्य विद्यस्
तस्मै नमो भगवते व्रजवल्लभाय ॥२॥
सर्वं त्वमेव कुरुषे, प्राणिभिः कारयष्यथ।
परं कोऽपि न जानाति लीलां ते ब्रजवल्लभ ॥३॥
कदा केन च किं कार्यं कारयष्यति हे प्रभो ?
तन्नु त्वमेव जानासि तत्राऽस्माकं गतिर्नहि ॥४॥
श्रीधरादि कृता व्याख्या गद्यपद्यात्मिका यथा।
तथा कर्तुं मदीयाऽपि प्रबलेच्छाऽस्ति हे प्रभो ॥५॥
वेदस्तुतावहंश्चाऽपि लिखिष्यामि विभावनाम्।
कृतो मनोरथो ह्येवमारम्भावसरे मया ॥६॥
परं विनात्वदीयेच्छां तत्पूर्तिस्तु कथं भवेत्।
भवता प्रेर्यते यद्यत् तदत्र लिख्यते मया ॥७॥

पुराणों को कुछ आलोचक आधुनिक कृति मानते हैं किन्तु ये तो बहुत पुराने काल में भी नवीन जैसे प्रतीत होते थे। इसी प्रकार की पुराण शब्द की व्युत्पत्ति की गई है। "पुराऽपि नव इव भाति इति पुराणम्।" पुराणों का संक्षेप में उल्लेख उपनिषदों

में भी मिलता है, अतः पुराणों का रचना काल छठी शताब्दी मान लेना उचित नहीं। श्रीमद्भागवतोक्त 'वेद-स्तुति' (भा० १०।८७) पर अनेकों विद्वानों ने संस्कृत टीकायें लिखीं हैं, उनमें एक यह "श्रीकृष्ण तत्व प्रकाशिका" भी है, इसके कर्ता हैं "दिग्विजयी श्रीकेशव काश्मीरि भट्टाचार्य, जो विक्रम की बारहवीं-तेरहवीं शताब्दी में जगद्गुरु श्रीनिम्बार्काचार्य पीठासीन आचार्य थे। आपने प्रस्थानत्रयी पर भाष्य लिखे, क्रमदीपिका आदि तंत्र ग्रन्थ, और श्रीमद्भागवत पर टीका भी की, परन्तु दैवयोग से आज उसमें से केवल वेद-स्तुति भागवाली टीका ही उपलब्ध होती है। केशव काश्मीरि भट्टाचार्य से पूर्व और पश्चात् अन्याऽन्य विद्वानों ने भी वेद-स्तुति की विशद व्याख्यायें की हैं। उनमें श्री श्रीधर स्वामी की प्रख्याति विशेष है। यद्यपि बहुत से परवर्तीय टीकाकारों ने उनका विशेष सन्मान और जहाँ तहाँ अनुसरण भी किया है, किन्तु श्रीकृष्ण तत्व प्रकाशिका टीकाकार श्रीकेशव काश्मीरिजी ने श्री श्रीधर स्वामी की आरम्भिक उपोद्घात संगति को भी असङ्गत बतलाया। श्रीनिवास सूरि आदि परवर्ती कई एक टीकाकारों ने भी उस असङ्गति का समर्थन करते हुए कहा "सगुण हो चाहे निर्गुण" ब्रह्म तो श्रुति (वेद) प्रतिपाद्य ही सिद्ध किया गया है।

वेद-स्तुति की टीकाओं में सबसे अधिक विस्तृत टीका महाराष्ट्र के श्रीवामन पण्डित कृत "श्रुति कल्पलता" नामक टीका है जो ३५ अध्यायों में पूर्ण हुई है। वह वि० सं० १७३१ (शकाब्द १५९५) के लगभग की हुई मानी जाती है। टीकाकार ने इसे वामन भगवान कृत बतलाया है। उसमें अनेकों स्थलों पर श्री श्रीधर स्वामी की आलोचना है। प्रथम (जय जय०) श्रुति की व्याख्या में लिखा है कि यद्यपि वेदार्थ दुर्बोध्य है। ब्रह्म को निर्गुण

अनिर्वाच्य घोषित करने वाले श्रीधरजी भी उसे नहीं जान सके, तथापि क्या कहा जाय ? वे आर्य (सम्माननीय) हैं।[1] उन्होंने कहा है कि हम भी स्वामीजी का सम्मान करते हैं परन्तु उन्होंने जो यह कह दिया कि श्रुतियाँ सर्वथा सगुण का ही प्रतिपादन करती हैं, निर्गुण का नहीं। इसके हम विरुद्ध हैं। "सर्वथा सगुणमेव प्रतिपादयन्ति न निर्गुणमित्ययमर्थो विरुद्धः।" श्रु० क० (अ० ४ पृ० १४ पं० २०)। श्रीवामनजी ने आगे श्रीस्वामीजी के इस कथन का भी खण्डन किया है कि "कल्प के आदि में सनन्दन ही स्तोता थे। अर्थात् श्रुतियों ने स्तुति नहीं की थी। इसी आशय को पुष्ट करने के लिए उन्होंने जहाँ-तहाँ टीका में "आह आह" एक वचन प्रदर्शित किया है, किन्तु मूल पाठ में "श्रुतय ऊचुः" यह स्पष्ट बहु बचन मिल रहा है। सम्भव है इस बहु वचन पर दृष्टि जाने पर उन्होंने एक वचन वाली अपनी उक्तियों को 'अथवा यह श्रुति समूह की उक्ति है' ऐसा अर्थान्तर भी दिखाया हो। ज्ञात होता है शेष कुलोत्पन्न श्रीवामन पण्डित का श्रीनिम्बार्क सम्प्रदाय से विशेष सम्पर्क था। अतः श्रीधर स्वामी की आलोचना उन्होंने "तत्व प्रकाशिकाकार श्रीकेशव-काश्मीरि भट्टाचार्य के अभिमतानुसार ही की हो।[2]

१—ते तु निर्गुणमनिर्वाच्यमित्येव व्याकुर्वन्ति,
वेदार्थस्य दुर्बोध्यत्वात् तथाप्यार्या एव।
(श्रु० क० अ० ६ पृ० ३० पं० १६)

२—श्रीवामनजी पण्डित का जन्म वीजापुर में हुआ था। ये ऋग्वेदीय पराशर गोत्र भृतिशेष इत्युपाभिधे' ब्राह्मण कुले लब्ध जन्मा देशस्थ-जातिभाक्" थे। ऐसा श्रु० क० टीका की प्रस्तावना में श्रीराम चन्द्र महादेव आठवले मसूराश्रम वाले ने ग्रन्थ प्रकाशन समय सन् १९३६ ई० में शकाब्द १८५८ में लिखा था। वीजापुर पर यवनों के आक्रमण

वेद-स्तुति की दक्षिण एवं उत्तर भारत में मिलने वाली पाण्डुलिपियों में जहाँ-तहाँ बहुत कुछ पाठ भेद मिलता है, टीका-कारों के अभिमतों में भी विभिन्नता होना स्वाभाविक है। मध्व सम्प्रदाय के श्रीविजय ध्वज कृत टीका में भागवत दशम स्कन्ध पूर्वार्ध की १२।१३।१४ इन तीन अध्यायों को प्रक्षिप्तांश मानकर छोड़ दिया है। उन्होंने इन तीनों पर टीका नहीं की। वेद-स्तुति के पाठ में तो इतना भेद है कि न तो नर्कुटक छन्द के लक्षणोक्त गण ही मिलते न पद ही मिलते हैं, अन्य सब श्रुतियाँ चार-चार पाद की हैं। किन्तु २१ वां श्लोक (७ वीं श्रुति) तीन ही पाद का इन्होंने माना है। वह पाठ इस प्रकार है—

मू० प्रक्रमवन् स्व सत्कृतं सर्वेषु पुरुषेषु सर्वासु,
सुधीषु स्थित्वा त्वांन्तु बहिरन्तरसच्चरणेऽपि।

एवं शासन हो जाने पर धर्म परिवर्तन के भय से वहाँ की समस्त सम्पत्ति
एवं शासन हो जाने पर धर्म परिवर्तन के भय से वहाँ की समस्त सम्पत्ति को छोड़कर इन्हें लेकर इनके पिताजी काशी में आकर बस गये थे। यहाँ ही वामनजी ने अध्ययन किया था। यहाँ शेष कुल वाले ब्राह्मणों के और भी घराने रहते थे, इन सबका श्रीनिम्बार्क सम्प्रदाय से परम्परागत सम्बन्ध ज्ञात होता रहा है। विक्रम की अठारहवीं शताब्दी के अन्त में "पं० श्रीजयरामजी शेष को अ० भा० श्रीनिम्बा-र्काचार्य पीठ पर सिंहासनारूढ़ करने के लिये उदयपुर, जयपुर आदि के नरेशों ने बहुत कुछ चेष्टा की थी। क्योंकि वे श्रीनिम्बार्काचार्य वृन्दा-वनदेवाचार्य के एक विद्वान् शिष्य थे। किन्तु विरक्त न होने के कारण अ० भा० श्रीनिम्बार्काचार्यपीठ पर ये पीठाशीन न हो सके। प्रतिष्ठित और अपने गुरु भ्राता होने के कारण महाराजा सवाई जयसिंहजी द्वि० ने इन्हें जयपुरस्थ श्रीजी के मन्दिर में बिठा दिये थे। ऐसा प्रमाण जयपुर किशनगढ़ की तवारीखें और सलेमाबाद के पत्रों में मिलता है।

तव पुरुषं वदन्त्यखिल शक्तिः धृतः स्वकृतम् ।
(भा० १०।८७)

इसकी टीका के अन्त में लिखा है—

"त्रिपादोऽयं श्लोकः।" (७,२०,२१)

सभी टीकाकारों ने वेदस्तुति २८ श्रुतियों को—"हय-दशभिर्नजौ भजजला गुरुनर्कटकम्" इस लक्षण के अनुसार ७ और १० अक्षरों पर विश्रामवाला न ज भ ज ज ल गु पांच गण और एक लघु तथा एक गुरु इन १७ अक्षरों वाले छन्द को नर्कुटक छन्द बतलाया है। किन्तु श्रीविजय ध्वजोक्त श्लोक में न ठीक गण मिलते न पदों के सत्तरह-सत्तरह अक्षर ही मिलते। अपितु तीनों पदों के ५१ की अपेक्षा ५२ अक्षर मिलते हैं।

श्रीविजय ध्वजजी की इस श्रुति विभिन्नता पर तो श्रीजीव गोस्वामी ने विशेष ध्यान नहीं दिया किन्तु दशम स्कन्ध पूर्वार्ध की १२-१३-१४ वें अध्यायों को प्रक्षिप्त बताने वाली इनकी मान्यता का उन्होंने भर्त्सना पूर्वक खण्डन किया है, उन्होंने कहा है कि किसी एक टीकाकार ने "पूतना लोक बालन्घी०" इत्यादि ६ और "य एतत्पूतना मोक्षं०" एक यह, इन सातों श्लोकों सहित १२ से १४ तक तक के तीन अध्यायों का प्रक्षिप्त बतलाया है, वह उसका कथन निराधार है, क्योंकि किसी भी देश की प्रतियों में ऐसा उल्लेख नहीं मिलता। वासनाभाष्य, सम्बन्धोक्ति विद्वत्कामधेनु, शुकमनोहरा, परमहंस प्रिया आदि। प्राचीन-अर्वाचीन सभी टीकाकारों ने इन पर टीकायें लिखीं हैं। किसी ने भी इन्हें प्रक्षिप्त नहीं बतलाया। यदि वह यह कहें कि हमारे सम्प्रदाय में अङ्गीकार नहीं किया अतः हम प्रक्षिप्त मानेंगे, तो हम कहेंगे अन्य सभी सम्प्रदायों वालों ने तो उन तीनों अध्यायों

को माना है, अतः तुम्हारे एक सम्प्रदाय का कथन मान्य नहीं हो सकता। "यदेतच्चाध्यायत्रयं, पूतना लोकबालघ्नीत्यादि श्लोक षटकं, य एतत्पूतना मोक्षमित्यादि श्लोकश्च कश्चित् न मन्यते, तत्र कारणं न पश्यामः। सर्वत्राऽपि देशेति ह्यः प्राप्तत्वात्, वासनाभाष्य, सम्बन्धोक्ति, विद्वत्कामधेमु, शुकमनोहरा, परमहंस प्रियादिषु प्राचीनाधुनिक टीकासु व्याख्यातत्वात्। तदीय एव सम्प्रदायानङ्गीकार प्रामाण्येन तस्याप्रामान्यं चेत् अन्य सम्प्रदाया-ङ्गीकार प्रामाण्येन विपरीतं कथं न स्यात्।[1]

वस्तुतः ब्रह्म एक है, निर्गुण और सगुण दो भिन्न-भिन्न ब्रह्म नहीं हैं। इस आशय को वेदस्तुति का अन्तिम "योऽस्योत्प्रेरक्ष०" यह उपसंहारात्मक श्लोक स्पष्ट कर रहा है। सभी टीकाकारों ने उत्प्रेक्षक, उत्पादक, पोषक, चेतना, चेतनव्यक्ताव्यक्त का अन्तर्यामी, शास्ता, परात्पर परब्रह्म, ध्येय, गेय, प्राप्तव्य और पाप के मुक्तिदायक यही एक ब्रह्म माना है। इसे सगुण, निर्गुण वेद वेद्य या अनिर्वाच्य कुछ भी कहें।

यह केवल वेद-पुराणोक्त शास्त्रीय वचनों का ही वाच्य नहीं अपितु शब्द मात्र का यही वाच्य है, इसीलिये तो अभियुक्तों की

१—श्रीजीव गोस्वामी कृत वैष्णव तोषणी, (भा० १०।१२।१ की टीका)

श्रीजीव गोस्वामीजी की उक्ति से यह सिद्ध होता है कि उनके और कविराज श्रीकृष्णदासजी के समय में गौड़ीय वैष्णव अपने को मध्व सम्प्रदाय के अन्तर्गत नहीं मानते थे। अन्यथा श्रीजीव गोस्वामी श्रीविजयध्वजजी की इतनी कटु आलोचना नहीं करते, कविराजजी भी उडुपि में तत्कालीन पदासीन श्रीमध्वाचार्य को श्रीमहाप्रभुजीके मुखारविंद से हमारे-तुम्हारे सम्प्रदाय के विभेद सूचक शब्द नहीं कहला सकते थे।

की प्रतिज्ञा है–सर्वे शब्दा: ब्रह्मवाचका: । उदाहरणार्थ उल्लू शब्द केवल किसी पक्षी विशेष का ही नहीं "उत्=ऊर्ध्वं, लुनाति । इस व्युत्पत्ति के अनुसार तो उल्लू शब्द को ब्रह्म का वाचक मान लेने में भी कोई आपत्ति नहीं । इसलिये "कथं चरन्ति श्रुतय:।" इस आरम्भिक श्रुति के 'कथं शब्द" को असम्भावना सूचक न मानकर मुख्य और गौण दोनों प्रकार की वृत्तियों में से कौन-सी वृत्ति से श्रुतियों द्वारा ब्रह्म का प्रतिपादन किया जाता है, यही पूछा गया है ।

श्रीव्रजवल्लभशरण वेदान्ताचार्य, पञ्चतीर्थ

विदुषां सम्मतयः

राष्ट्रपति द्वारा पुरुस्कृत डा० श्रीवैद्यनाथजी झा, न्या. वे. व्याकरण आचार्य प्रधानाचार्य श्रीनिम्बार्क सं० म० वि० बृन्दावन

[१]

विदेह देशालङ्कारं श्रीनिम्बार्कपदानुगम् ।
आबालकृष्णरसिकं गुरुं वन्दे भगीरथम् ।।

महर्षि कृष्णद्वैपायन वेद-व्यास विरचितेषु महापुराणेषु सर्वानतिशय्य विराजमानं श्रीमद्भागवतपुराणमेव, तथा तमधिकृत्य "यद्वैष्णवानां धनमिति कथनं च नितरां सार्थकतामावहति । यतोहि प्रोज्झितकैतवे अत्र परमेऽत्र भागवते आदित: अन्तं यावत् विष्णोरेव पारम्यं तद्भक्तेरेव च परमोत्कर्ष: परिलक्ष्यते । अत्रेदमप्यवधेयमेव यन्न केवलं भागवत एव अपितु ब्रह्मपुराणात् ब्रह्माण्डं यावत् उपक्रमोपसंहारादिग्रन्थतात्पर्यनिर्धारकैः श्रीहरेरेव तद्भक्तेरेव वा चरमोत्कर्ष: प्रतिपादित: परिलक्ष्यते इति नास्ति तिरोहितं तटस्थ समीक्षकानां सुधियाम् । विष्णुस्वपि गोपरूप: वृन्दावनेश्वरो द्विभुज: वंशीधर सर्वमूलरूप इत्यपि "विष्णुर्गोपा अदाभ्य:" "ता वां वास्तून्युस्मसि गमध्यै" इत्यादि ऋग्वेदीय सूक्तैः पाद्माद्यनेकपुराणवचनैश्च सुस्पष्टमेव ।

श्रीमद्भागवतं प्रमाणमूर्धन्यं सर्ववादि सम्मतं च इत्यपि तत्र कृताभि: श्रीनिम्बार्क शङ्कर रामानुजमध्ववल्लभमतानुयायिव्याख्याभि: अन्याभिश्च शैवशाक्तस्मार्तादि विद्वत्सम्पादिताभिर्टीका टिप्पणीभिश्च, सुस्पष्टमेव ।

अस्याश्च विद्यावतां परीक्षास्पदभूतायां ब्रह्मसम्मितायां भक्तिमय्यां पारमहंस्यसंहितायामन्यान्य वैष्णव सम्प्रदायानामिव स्वाभाविक भेदाभेद प्रतिष्ठापकस्य अनादि वैदिक श्रीनिम्बार्कसम्प्रदायस्य भागवतललामभूतैः श्रीशुकसुधीनामक विद्वद्वरैः सम्पादिता सिद्धान्त प्रदीप नाम्नी टीका भागवते विद्वत्समाजे नितान्तं प्रसिद्धाचेति।

आचार्य कोटिकेषु विद्वत्सु प्रस्थानत्रयी भाष्यकर्तृणां परमप्रताप्याचार्यवर्याणां जगद्विजयि श्रीकेशवकाश्मीरि भट्टाचार्याणामपि श्रीमद्भागवते टीका आसीत्, परं दौर्भाग्यात् भृशं गवेषितापि सा नाद्यापि समुपलब्धेति महान् खेदस्य विषयः। साम्प्रतं केवलं वेदस्तुतेरुपरि कृष्णतत्वप्रकाशिकाया एवोपलब्धिरित्यपि सौभाग्यस्य विषयः।

अस्याः श्रीकृष्णतत्त्वप्रकाशिकाया आचार्यकृताया वेदस्तुतेः टीकायाः संस्कृत भाषायामुपनिबद्धत्वेनाति गम्भीरार्थतया सर्वजन सुबोधाय कथं स्यादित्यवधार्य सम्प्रदायस्य नानासंस्कृत ग्रन्थानां भाषा-टीकाकर्तृभि र्निम्बार्कसम्प्रदायस्य एकमात्र कर्मठ विरक्त विद्वद्भिः वेदान्ताचार्य पञ्चतीर्थ महानुभावैः स्वनामधन्यै रधिकारि श्रीव्रजवल्लभशरणजी महाराजैः सरलया सुललितयाच हिन्दी-भाषया टीका विधाय सर्वसाधारण जनानामनिर्वचनीयोपकारो विहितः। तां च भाषानुवादसहितां वेदस्तुतेः श्रीकृष्ण तत्त्वप्रकाशिका टीकां सुललित कथावाचकेन सम्प्रदायभूषणेन विदुषा श्रीवृन्दावनबिहारी मिश्र महाभागेन प्रकाश्य न केवलं सम्प्रदायस्यैव महानुपकारो विहितः, अपितु सर्वेऽपि भावुक भक्तास्तै र्नितान्तमुपकृताः। अतः उभावपीमौ प्रकाशकानुवादकमहाभागौ नितरां धन्यवादार्हौ।

अस्मिन् संदर्भे अस्य ग्रन्थस्य प्रकाशकाः अनुवादका अन्ये च सम्प्रदायस्य श्रीमन्तो मठाधीशाः उदार चेतसः श्रेष्ठिवर्याश्च सानुनयमनुरुध्यन्ते यत् सम्प्रदायस्य आधारभूत निजाद्याचार्य विरचितं ब्रह्मसूत्रभाष्य मिति नाविदितं तत्र भवतां भवतां सम्प्रदायसिद्धान्तमर्मविदुषाम्। अस्य ब्रह्मसूत्र भाष्यस्य प्रामाणिकोऽनुवादः सम्प्रदाय सिद्धान्तमर्मज्ञैरस्माकं नित्यनिकुञ्जलीलां प्रविष्टैः प्रातः स्मरणीयैः गुरुभिः पं० श्रीभगीरथजी झा महाभागैः पञ्चत्रिंशद्वर्षाणि पूर्वं कृतः प्रामाणिकोऽनुवादः अद्ययावत् अप्रकाशितः संतिष्ठत इति महान् खेदस्य विषयः यथाऽयं ग्रन्थः आशु प्रकाशितं स्यात् तथा साम्प्रदायिक महानुभावैः श्चेष्टितव्यम्। कार्यमिदं सम्प्रदायस्य कृते सर्वातिशायि महत्त्वपूर्णमिदमिति मदीयो दृढ़ीयान् प्रत्ययः।

२९-३-८६ विदुषां वशंवदः, भक्तानां किंकरश्च

वैद्यनाथ झा

[२]

श्रीमद्भागवतं शास्त्रं समुद्रमस्ति। तस्योपरि अनेके विद्वांस स्व विद्वत्ता एवं भक्त्यनुसारं स्वविचारं प्रकटितवन्तः।

श्रीनिम्बार्काचार्यानुयायि विद्वांसः प्रायः श्रीमद्भागवतोपरि स्वविचारान् प्रायः नोद्घाटितवन्तः किन्तु श्रीकेशवकाश्मीरिभट्टाचार्यमहोदयानां लेखिन्या किञ्चित् प्रस्वादरूपं लब्धम्। अस्योपरि श्रीवृन्दावनबिहारीमिश्राणां प्रेरणया श्रीब्रजबल्लभशरणजी महोदयेन लोकभाषायां यल्लिखितमस्ति तद् अतीवानन्द दायकम्। श्रीकृष्णतत्व प्रकाशिकाटीका प्यत्यानन्द

दायिका। श्रीकृष्णतत्व प्रकाशिका टीका यथा अत्यानन्ददायिका तथा भाविविदुषां प्रेरणा दायिका: आशास्त यदियं परम्परा अग्रे वृद्धि गमिष्यति।

भगवतशरणशर्मा व्याकरणाचार्य
वेदान्तशास्त्र, एम० ए० द्वि विषये, आगरा

[३]

श्रीमद्भागवत का प्रत्येक अक्षर ही श्रीकृष्णमय है। फिर भी, वाङ्मयावतार इस ग्रन्थ शिरोमणि की कुछ विशिष्ट मणियाँ विशेष तत्व प्रकाशक हैं। उन मणियों में ही यह "श्रुति गीत" भी है, जो वेदस्तुति और ब्राह्मी उपनिषद् के नाम से भी विख्यात है। इस उपनिषद् की आचार्य परम्परा भी यहाँ निर्दिष्ट है—जिसमें अनादि निवृति सम्प्रदाय प्रवर्तक श्रीसनकादिकों का नाम भी आया है। अत: इस परम्परा के आचार्य चरणों ने ही श्रीमद्भागवत को सर्वथा गेय रूप स्वीकार करके इसके महत्व को बढ़ाया था। पश्चात् प्रस्थानत्रयी के महत्व को श्रीमद्भागवत रूप से प्रस्थान चतुष्टय की घोषणा जो की गयी, उसका मूल आधार यह सनकादिक सम्प्रदाय ही था। परम दिग्विजयी श्रीकेशवकाश्मीरी भट्टाचार्य द्वारा वेदस्तुति की टीका के मङ्गलाचरण में सनकादिकों को प्रथम सम्मान देना इसी रहस्य का सूचक है। श्रीकेशवकाश्मीरीजी के पूर्वाचार्यों द्वारा अवश्य ही श्रीमद्भागवत पर टीका-विवरण आदि लिखे गये होंगे, किन्तु, कालचक्र से उपलब्ध नहीं हो पाये हैं। श्रीकेशवकाश्मीरी भट्टजो द्वारा लिखित टीका में भी वेदस्तुति की ही "कृष्णतत्व प्रकाशिका" उपलब्ध है। फिर भी जो प्राप्य है—उतना ही

आपकी विशिष्टिता समझाने के लिये पर्याप्त है। पूर्ण पुरुषोत्तम श्रीकृष्ण हो श्रीमद्भागवत के दशम लक्षण पर्याप्त है। इस तत्व का प्रकाशन ही इस टीका की विशेषता है।

व्यासोऽप्यस्यैव व्याख्यानं श्रीभागवतसंज्ञया।
प्रतिवर्णं सहस्त्राणां श्लोकानां सञ्चकारह॥

शिव संहिता के इस वचन से स्पष्ट है, कि श्रीअष्टादशाक्षर मन्त्रराज के एक-एक वर्ण के आधार पर एक-एक हजार श्लोक वेदव्यास ने श्रीमद्भागवत के प्रकट किये हैं। श्रीगोपाल मंत्र के महत्व को समझाने के लिये जैसे श्रीआचार्यचरण ने "क्रम-दोपिका" की रचना की है, वैसे ही श्रीकृष्ण-तत्व प्रकाशन के लिये उनकी यह टीका है, जो अत्यन्त सरल तथा अहंबुद्धि वालों के लिये अत्यन्त जटिल भी है कि "अन्यथा तत्प्रकाशस्तु श्रीमद्भागवताद् भवेत्" अर्थात् श्रीकृष्ण के नित्यधाम में विराजने पर आगतघोर कलियुग में उनका प्रकाश केवल श्रीमद्भागवत से ही होना सम्भव है। तभी तो इस टीका का नाम आपने दिया "कृष्ण तत्व प्रकाशिका" जो सहज सार्थक नाम है। प्रख्यात टीकाकार श्री श्रीधर स्वामी के अन्यथार्थ को वास्तविकार्थ का रूप यहाँ प्रारम्भ में ही दिया गया है। "उषित्वाऽऽदिश्य सन्मार्गं पुनर्द्वारवतीमगात्" इस भूमिका में ही श्री श्रीधर स्वामी ने वर्णन किया है कि "सतां स्वत: प्रमाणभूतानाम् अप्रमाण्यकारण शून्यानां वेदानां मार्गं निर्गुणब्रह्म परत्वमुपदिस्य........" यहाँ वस्तुत: अद्वैत आग्रह वशीभूत पूर्वापर विचारशून्य कथन है। अत: श्रीआचार्यवर्य ने वर्णन किया कि "सन्मार्गं भागवतानां भगवतोऽप्यधिकपूजार्हत्वमादिष्य............" अर्थात् भगवान् से कहीं अभिक पूज्य विप्र—वैष्णव हैं—यही

सन्मार्ग है। जिसका उपदेश भगवान् ने अपने दोनों भक्तों को दिया है, तथा स्वयं भक्त भक्तिमान् विशेषण से युक्त भी हुये हैं। साधकों की साधन सम्पत्ति, ईष्ट–गुरु–मंत्र और धाम का स्पष्ट वर्णन इस टीका में प्राप्त है। "भुविपुरिपुण्यतीर्थ सदनानि...." मंत्र में "सदनानि वृन्दावनादीभि" व्याख्या करके अपनी धाम-निष्ठा को प्रकट तो किया ही है—आगे टीकाकारों के लिये मार्ग दर्शन भी किया है। इसी लिये बाद के कई टीकाकारों ने तो पूरे वेदस्तुति प्रकरण को धाम परक ही घटा दिया है। प्रथम स्कन्धीय "एते चांशकला: पुंस: कृष्णस्तु भगवान् स्वयम्" इस परिभाषा सूत्र को उपक्रम और यहाँ "यो धत्ते सर्वभूतानामभवायोशती: कला:" को उपसंहार समझाकर अद्‌भुत सिद्धान्त दर्शन पूर्वक श्रीमद्भागवत का रहस्य स्पष्ट करना इस टीका की अपूर्व विशेषता है। "योऽस्योत्प्रेक्षक...." श्लोक में ब्रह्मसूत्र के चार अध्याय समन्वय, अविरोध, साधन और फल का निर्देश अन्य टीकाओं से कहीं अधिक चमत्कारी है। वस्तुत: सिद्धान्त वही है जो स्वाभाविक है। अत: जिस सहज सर्ववेदसम्मत स्वाभाविक भेदाभेद सिद्धान्त को श्रीनिम्बार्क भगवान् ने प्रकट किया था। उसका विशद् निर्णय प्रमाणित इस टीका में सर्वत्र है। श्रीकेशवकाश्मीरी कृत गीता-टीका तत्व प्रकाशिका का प्रकाश श्रीमधुसूदन सरवस्ती जैसे धुरन्धर की गीता टीका पर परिलक्षित है, वैसे ही श्रीमद्भागवत की 'कृष्ण तत्व प्रकाशिका' का ही प्रकाश-प्रभाव पश्चात् टीकाकारों पर पड़ा है—यहाँ कोई सन्देह नहीं है।

अधुना युगधर्म को देखते हुये इन सद्‌ग्रन्थों का प्रकाशन अत्यन्त आवश्यक है। सद्‌ग्रन्थ प्रकाशन भी बहुजन हिताय बहुजन सुखाय श्रीराधामाधव भगवान् की परम सेवा है। अत्यधिक

प्रसन्नता की बात है कि इसमें सर्वथा सम्माननीय श्रीअधिकारीजी महाराज की हिन्दी टीका भी प्रकाशित हैं। भला, आपकी सूक्ष्म अनुभवी दृष्टि से किसी अंश का बाकी रहना तो सम्भव है ही नहीं, अपितु, अत्यधिक विशेषता, उपयोगिता अवश्य ही आ गयी है। द्रव्य सहायता द्वारा प्रकाशन और बहन करने वाले तो निश्चित ही पुण्य के भागी हैं, आचार्यचरणों के अनुग्रह भाजन हैं। अन्त में "धर्मे मतिरस्तु–कृष्णे रतिरस्तु।"

आचार्य स्वामी श्रीराधाब्रजेशशरणदेव

सुदर्शन आश्रम, श्रीधाम वृन्दावन

[४]

श्रीराधामाधव चरणारविन्द चञ्चरीक यह वाक्य प्रमाण पारावारीण निम्बार्क पीठाधिपति श्रीकेशवकाश्मीरी भट्टाचार्य विरचित वेदस्तुति की तत्व प्रकाशिका व्याख्या प्रकाशित हो रही है, यह परम प्रमोद का अवसर है। श्रीआचार्यचरण की भाषा सरल, सरस तथा हृदयग्राही है। आपकी गीता की टीका से मधुसूदन सरस्वती ने अधिक सहायता ली है। प्राय: अक्षरार्थ ज्यों का त्यों रख दिया है। आप शांकर वेदान्त के प्रतिद्वन्दी हैं, द्वैताद्वैत के प्रतिपादन में आपके खण्डन का विषय शङ्कराचार्य बनते है। "क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धि" श्लोक की व्याख्या में विशेष रूप से शांकर सिद्धान्त का खण्डन किया है। वेदस्तुति के ३७ वें श्लोक में संसार को मिथ्या मानने वाले माया वादियों का श्रुति-स्मृति तथा प्रबल युक्तियों से खण्डन किया है। यद्यपि आचार्यजी की भाषा प्रसाद-गुण समन्वित है, तथापि आधुनिक काल में

हिन्दी अनुवाद की आवश्यकता थी। इस आवश्यकता को श्रीव्रजबल्लभशरणजी वेदान्ताचार्य पञ्चतीर्थ ने पूर्ण किया, अतः क्षीर नीर विवेकी लाभान्वित हों।

निम्बार्कसिद्धान्तानुगत--
श्रीश्यामाशरण
श्रीधाम वृन्दावन

[५]

श्रीमद्भागवत और भगवान् श्रीकृष्ण तत्त्वतः अभिन्न हैं। जैसे पद-पदार्थ का सम्बन्ध वाच्य वाचक भावेन अभेद है, वैसे ही श्रीमद्भागवत और भगवान् श्रीकृष्ण का सम्बन्ध है, भगवान् श्रीकृष्ण वाच्य है, श्रीमद्भागवत वाचक है। दूसरे शब्दों में यों कहा जाय तो असङ्गति नहीं होगी कि भगवान् श्रीकृष्ण ही भागवत है, भागवत ही श्रीकृष्ण हैं। यह कल्पना नही है वस्तुस्थिति यही है। जब भगवान् श्रीकृष्ण इस धराधाम के समस्त कार्यों को सम्पादन कर अन्तर्धान होने को थे तब परम भागवत उद्धवजी ने दूरदर्शिता पूर्ण विचार करके बड़ी सावधानी से प्रार्थना की कि भगवन् ? यह आपकी त्रिभुवन सुन्दर रूपमाधुरी लोकोत्तर लीला, तथा अहैतुकी कृपा के साक्षात् दर्शन और अनुभव करने वाले भावुक भक्तजन सहसा आपके अन्तर्धान होने से कैसे जीवित रह सकेंगे। और दूसरी बात यह है कि इस घोर कलिकाल के आगमन से लोग प्रायः उग्र मस्तिष्क हो जायेंगे, उनके सङ्गों का प्रभाव साधु-सन्तों पर भी पड़ेगा। ऐसी परिस्थिति में लोगों का अवलम्बन क्या रहेगा, अतः आप कृपा करके कोई ऐसा मार्ग दर्शन करादें, जिससे सब लोगों का कल्याण हो।

इस महत्वपूर्ण प्रस्ताव को भगवान् श्रीकृष्ण ने गम्भीरता से लिया, और उस तथ्यपूर्ण प्रार्थना को क्रियान्वित किया। भगवान् श्रीकृष्ण ने अपनी सारी शक्ति को श्रीमद्भागवत में आधान कर भगवान् श्रीकृष्ण श्रीमद्भागवत रूप शब्द समुद्र में अन्तर्भूत हो गये, श्रीकृष्ण भगवान् ने अन्तर्धान लीला के समय उद्धवजी को यहाँ रहकर सद्धर्म प्रचार की आज्ञा दी। प्रभु श्रीमद्भागवत रूप से यहाँ विराजे–"तेनेयं वाङ्मयी मूर्ति प्रत्यक्षा वर्तते हरेः" अतः श्रीमद्भागवत, महापुराण भगवान् श्रीकृष्ण की साक्षात् किंवा प्रत्यक्ष वाङ्मय मूर्ति है। इसके सेवन, श्रवण, पठन, दर्शन से जन्म-जन्मार्जित पापपुञ्जों का नाश होता है। श्रीमद्भागवत की आराधना साक्षात् श्रीकृष्ण की आराधना है।

श्रीमद्भागवत रूप श्रीकृष्ण ही भक्तों की रक्षा करते हैं, भक्त रक्षा का दायित्व श्रीमद्भागवत पर निर्भर है। संस्कारवशात् जैसी-जैसी परिस्थिति में भक्तजन होते हैं, वैसी-वैसी परिस्थिति से भगवान् रक्षा करते हैं।

राजा परीक्षित् के ऊपर दो महान् अस्त्रों का प्रहार हुआ। एक तो उत्तरा के गर्भ में स्थित राजा को खात्मा करने के लिए अश्वत्थामा ने ब्रह्मास्त्र से प्रहार किया। दूसरा शृङ्गी ऋषि का वागस्त्र। प्रथम प्रयुक्त ब्रह्मास्त्र का प्रतिकार तो दर्शनास्त्र द्वारा किया गया। भगवान् श्रीकृष्ण ने साकार होकर भी सर्वव्यापकता दिखायी। पाण्डवों के बीच में विराजमान होकर भी उत्तरा के गर्भ में जाकर भक्त की रक्षा की।

दूसरा अस्त्र था वाङ्मय। इस वाङ्मय अस्त्र का प्रतिकार भी वाङ्मय शस्त्र से ही होना चाहिये। अतः भगवान् श्रीकृष्ण ने कृष्णद्वैपायन वेदव्यास जैसे महापुरुष के मन में

उत्पन्न अपरितोष (किंकर्तव्य विमूढ़ता) को निमित्त बनवाकर देवर्षि नारद द्वारा अपरितोष परिहारार्थ श्रीकृष्णमय भागवत-शास्त्र के प्रणयन के लिये वेदव्यासजी को उत्साहित किया।

इदं 'हि' पुंसां तपसः श्रुतस्य वा
स्विष्टस्य सूक्तस्य च बुद्धिदत्तयोः।
अविच्युतोऽर्थः कविभिर्निरूपितो
यदुत्तमश्लोक गुणानुवादः॥

उत्तम श्लोक भगवान् श्रीकृष्ण के गुण वर्णन ही सर्वोत्तम शान्ति का साधन है। इसी प्रतिमा को लेकर व्यासजी ने श्रीकृष्ण-तत्वमय श्रीमद्भागवत शास्त्र को समाधि से अभिव्यक्त किया। और योग्यतम पात्र श्रीशुकदेवजी को पढ़ाया, और शुकदेवजी ने श्रृङ्गी ऋषि को शाप से अभिभूत हुए राजा परीक्षित को सुनाकर शाप विमुक्त ही नहीं किया, बल्कि राजा परीक्षित को वह परम पद प्राप्त कराया जो मानव जीवन का परम पुरुषार्थ है। एतावता यह निश्चित है कि श्रीमद्भागवत के आश्रय में रहने वाले महानुभावों को परप्रयुक्त आभिचारिक प्रयोग तथा शाप नहीं लगते। थोड़ी-सी भी मन में अशान्ति होने पर, मन में उथल-पुथल होने पर, रोग लग जाने पर अथवा कोई भी विपत्ति आने पर श्रीमद्भागवत की शरण लेनी चाहिये, "हरिस्मृतिः सर्वविपद्विमोक्षणम्" भगवान् श्रीकृष्ण के स्वरूप भागवत के स्मरण मात्र से सारी विपत्तियां नष्ट हो जाती हैं।

श्रीमद्भागवत श्रीकृष्ण-तत्व प्रकाशक है। पद-पद, श्लोक-श्लोक, अध्याय-अध्याय में भगवद्चर्चा है। श्रीमद्भागवत का प्रतिज्ञा वाक्य है कि "एते चांशकलाः पुंसः कृष्णस्तु भगवान् स्वयम्"।

यद्यपि श्रीभागवत में प्रत्येक भक्त चरित्र वर्णन के प्रसङ्ग में सृष्टि विषयक परिचर्या में वंशावली के विस्तृत प्रकरणों में भगवान् श्रीकृष्ण की भगवता का साङ्गोपाङ्ग वर्णन मिलता है। ध्रुव-स्तुति, प्रह्लाद-स्तुति, गजेन्द्र-स्तुति, ब्रह्म-स्तुति, वेद-स्तुति जैसी लोकोत्तर भावपूर्ण स्तुतियों में भगवान् को सर्वाधार रूप माना है। जहाँ पर बाल-लीला का प्रसङ्ग आया है, वहाँ बाल चरित्र वर्णन करते-करते कहीं लोग भगवान् को मानव बालक न समझें, एतदर्थ शुकदेव सावधान हो जाते हैं, और भगवान् को सर्वाराध्य, सर्वाधार बताने से नहीं चूकते। दामोदर लीला, चीरहरण लीला, गो-वत्स हरण लीला, सहभोजन लीला आदि में असम्भावना दोष परिहार के लिए तुरन्त ही भगवत्ता प्रदर्शित करते हैं। मृत्तिका भक्षण की शिकायत पर अन्त में निर्णय दिया है कि—

त्रय्याचोपनिषद्भिश्च सांख्ययोगैश्च सात्वतैः।
उपगीयमानमाहात्म्यं हरिं सा मन्यतात्मजम्॥

व्रज बालकों के साथ सहभोजन के प्रसंग में "यज्ञ भुक्-बालकेलिः" कहकर भगवान् श्रीकृष्ण को यज्ञ-भगवान् बताया है। ब्रह्माजी ने अपना निर्णय इस प्रकार दिया है कि—

अहो भाग्य महो भाग्यं नन्द गोप व्रजौकसाम्।
यन्मित्रं परमानन्दं पूर्णं ब्रह्म सनातनम्॥

यह तो ठीक है। वहाँ पर देखिये जहाँ पर शुकदेवजी वह चरित बताते जा रहे थे जहाँ स्यमन्तक मणी की चर्चा थी कि काशी में अक्रूर के पास स्यमन्तक मणि के रहने से अनावृष्टि-दुर्भिक्ष आदि उपद्रव न थे, द्वारिका में मणि के न रहने से अनेक हुए, इस पर शुकदेवजी तुरन्त सावधान हो जाते हैं, यह बिल्कुल असम्भावना है। ऐसा कदापि नहीं हो सकता जहाँ महात्माओं

के आश्रयभूत श्रीकृष्ण हैं, "मुनिवासनिवासे किं घटेतारिप्रदर्शनम्" इसी प्रकार मायावी शाल्व ने वासुदेव को पकड़कर भगवान् के सामने लाकर जो कृत्य दिखाया था, उस कृत्य से वहाँ बताया गया है कि भगवान् श्रीकृष्ण भी मोह को प्राप्त हुए, परन्तु इस कथानक को शुकदेवजी नितान्त गलत बताते हैं। कहते हैं—"कुतो नु मोहः परमस्य सद्गतेः"

इस प्रकार भगवान् श्रीकृष्ण की भगवत्ता का निरूपण किया है। इन सब प्रकरणों की अपेक्षा स्तुति प्रकरण ही सर्वोत्कृष्ट है, उनमें भी वेदस्तुति तो सर्वातिशायिनी है। वेदस्तुति पर स्वतन्त्र कई टीकायें हैं। उनमें से वह टीका है जिसका नाम 'श्रीकृष्णतत्व प्रकाशिका' है। जिसके रचयिता दिग्विजयी श्रीकेवशकाश्मीरि भट्टाचार्यजी हैं, श्रीआचार्यपाद ने भगवान् श्रीकृष्ण को पूर्ण भगवान् मानकर समस्त शास्त्रों का समन्वय श्रीकृष्ण पर ही किया है, साथ ही तादृग् मान्यता पर आने वाली समस्त विपरीत भावनाओं को सर्वथा निराकरण कर श्रीकृष्ण को तत्व रूप में सिद्ध किया है। भगवान् श्रीकृष्ण पूर्ण भगवान् हैं। यह एक होकर भी अनेक हैं, अनेक होकर भी एक हैं, साकार हैं, निराकार हैं, साकार होकर भी निराकार हैं, निराकार होकर भी साकार हैं, एक चाल में सर्व स्वरूप हैं। वृन्दावन से मथुरा जाने पर भी वृन्दावन में हैं, मथुरा से द्वारिका जाने पर भी मथुरा में ही हैं, किंवा वृन्दावन, मथुरा, द्वारिका ही नहीं आपाताल सत्यलोक पर्यन्त आकाशवत् व्यापक हैं, सर्वाधार हैं, सर्वेश्वर हैं, सर्वनियन्ता हैं, सर्वकारण कारण है, स्वयं अकारण हैं, सर्वान्तर्यामी हैं, घट-घट के निवासी हैं, सत्ता और आनन्द का समष्टि रूप ब्रह्म है। सर्वाकर्षक है, अतएव भगवान् श्रीकृष्ण हैं। इस प्रकार कृष्णतत्व के प्रकाशन करने

वाली श्रीकेशवकाश्मीरिजी की टीका हिन्दी रूपान्तर सहित प्रकाशित होने योग्य थी ही, उस 'श्रीकृष्णतत्व प्रकाशिका' टीका का हिन्दी रूपान्तर कर जन समक्ष के प्रस्तुत करने वाले अधिकारी श्रीव्रजवल्लभशरणजी महाराज वेदान्ताचार्य धन्यवाद के पात्र हैं ही, इनसे भी अधिक साधुवाद के भाजन तो श्रीवृन्दावनविहारी मिश्र हैं, जिन्होंने प्रकाशन का भार लिया है। श्रीमिश्रजी तो भागवत प्रवचन करते-करते श्रीवृन्दावनबिहारीजी में निश्चित (घुलमिल) हो गए हैं। श्रीमिश्रजी के मन में और ऐसे ही उत्तम ग्रन्थ प्रकाशन करने की भावना उदित हो, इन्हीं कामनाओं के साथ——

हरिशरण उपाध्याय
व्याक० वेदांताचार्य दर्शन विभागाध्यक्ष
निम्बार्क स्नातकोत्तर महाविद्यालय, वृन्दावन

[५]

श्रीमद्भागवत स्वतः प्रमाण है परतः प्रमाण नहीं है।

आप्तकाम पूर्णकाम आत्माराम परम निष्काम भगवान् परम स्वतन्त्र हैं तथापि भक्त-प्रेम में पराधीन उनका एक स्वभाव है अनुभवी लोगों ने कहा है—

अहो मित्रमहोमित्रं बन्दे तत्प्रेम बन्धनम्।
यद्बद्धं मुक्तिदं मुक्तं ब्रह्म क्रीडा मृगी कृतम् ॥

अहो कोई निर्गुण निराकार निर्विकार ब्रह्म को कोई सगुण साकार ब्रह्म को भजते हैं परन्तु मैं तो उस प्रेम बन्धन को भजता हूँ जिससे बँधकर अनन्त प्राणियों को मुक्ति देने वाला स्वयं नित्य मुक्त ब्रह्म भी भक्तों का खिलौना बन जाता है।

जब श्रुति वेदान्त वीथियों में भ्रमण करके भी पूर्णता का आभास न कर सकी तो तप द्वारा गोपी भाव को प्राप्त किया और यह अनुभव किया कि प्रभु भक्ति के वशीभूत होकर भक्तों को नित्य-नित्य नव-नव आनन्द प्रदान करते हैं तो श्रुतियों ने भी २८ श्लोकों में स्तुति की जो ब्राह्मी उपनिषद् व वेदस्तुति के नाम से प्रसिद्ध है। उसीने गहनता व तारतम्यता के साथ भक्ति का प्रतिपादन किया है। इसी वेदस्तुति पर भक्ति-पथ प्रदर्शनार्थाय श्रीकेशवकाश्मीरि भट्टजी महाराज जो निम्बार्क सम्प्रदाय में सूर्य सदृश्य हैं हम कलियुगी जीवों के कल्याणार्थ कृष्ण-तत्व प्रकाशिका नाम से टीका की जो प्रसिद्ध हैं यह ग्रन्थ प्राय: उपलब्ध नहीं होता था। उसी प्रकाशिका टीका ग्रन्थ का पं० श्रीवृन्दावन-बिहारीजी भागवत भूषण अथवा वृन्दाटवी के महान् रत्न हैं। उन्हीं के अथक परिश्रम व साहस से यह ग्रन्थ आज सुलभ हुआ है, हम किन शब्दों में उनकी प्रशंसा करें। अधिकारी श्रीव्रज-वल्लभशरणजी वेदान्ताचार्य पञ्चतीर्थ महाराज का परिश्रम जो टीका का अर्थ रूप में स्पष्ट है वह भूरि-भूरि प्रशंसनीय है।

पं० विश्वनाथ शर्मा, कथावाचक
वृन्दावन

[७]

श्रीकेशवकाश्मीरि भट्टाचार्य कृत श्रीकृष्ण तत्व प्रकाशिका वेदस्तुति (भा० १०।८७) की टीका बड़ी सुन्दर है। हमारे स्व० पू० विद्यागुरु श्रीपुरुशोत्तमजी चतुर्वेदी इसे प्रकाशित करवाने की बड़ी खोज में थे। किन्तु उन्हें इसके न मिलने से श्रीधरी के अनुसार हिन्दी टीका करके आज से लगभग ४० वर्ष पूर्व उसे ही प्रकाशित करवाना पड़ा।

श्रीसर्वेश्वर प्रभु की सत्प्रेरणा से भागवत भूषण पंडित श्रीवृन्दावनबिहारीजी मिश्र वृन्दावन ने अधिकारी श्रीव्रजवल्लभ शरणजी वेदान्ताचार्य पञ्चतीर्थ से भाषानुवाद करवाकर इसे प्रकाशित करवाया। इसके पठन-पाठन से भावुक भक्त और भागवतानुशीलन करने वाले प्रेमी विद्वानों का अनुपम हित होगा।

पं० श्रीगोविन्ददास 'सन्त'
पुराण काव्यतीर्थ धर्मशास्त्री
प्र० सम्पादक—'श्रीनिम्बार्क पाक्षिक' अजमेर

❊ श्रीसर्वेश्वरो जयति ❊

वेदस्तुति संक्षिप्त सार-सूची

★

वेदस्तुति के उपोद्घात की १४ और अन्तिम सन्दर्भ संगति के ६ और एक उपसंहारात्मक, कुल ४९ श्लोकों में मध्यवर्ती २८ श्रुतियों के संक्षिप्त सार की विभिन्न टीकाकारों के अभिमतानुसार सूचियाँ विभिन्न प्रकार की प्रकाशित हुई हैं। यहाँ श्रीकेशव-काश्मीरि भट्टाचार्य की टीका के अनुसार संक्षिप्त सार-सूची दी जाती है।

आरती श्रीभागवतजी की

आरति श्रीभागवतजी की। करत पवित्र भावना हिय की॥
श्रीनारायण मुख की बानी।
पढ़ते ब्रह्मा और ब्रह्मानी।
शंकर पार्वती सुख मानी।
कृष्ण कथा सुखधाम हरी की। आरति श्रीभागवतजी की॥१॥
सनकादिक सै शेष बखानी।
नारद मुनी परम सुख मानी।
व्यास सुनी सर्वोपरि जानी।
लिखी पुराण तिलक की टीकी। आरति श्रीभागवतजी की॥२॥
श्रीशुकदेव व्यास ते सुनि कै।
कही परीक्षित नृप से गुनि कै।
गंगा तट सन्तन कौ चुनि कै।
ज्ञान-विराग भगति युवती की। आरति श्रीभागवतजी की॥३॥
कथा भागवत जो नित गावै।
आप सुनै और को सुनावै।
निश्चय कृष्ण चन्द्र पद पावै।
प्रेम सिन्धु रस विन्दु अमी की। आरति श्रीभागवतजी की॥४॥
करत पवित्र भावना हिय की।

लेखक—

आचार्य पं० वृन्दावनविहारी मिश्र (भागवतभूषण)

श्रीभागवत कुञ्ज, प्रताप बाजार, वृन्दावन

❀ जय श्रीराधे ❀

आचार्य

पं० वृन्दावनबिहारी मिश्र

भागवतभूषण

श्रीभागवत कुञ्ज, प्रताप बाजार

वृन्दावन (उ० प्र०)

❋ श्रीराधासर्वेश्वरो विजयते ❋

अनन्त श्रीविभूषित जगद्गुरु श्रीनिम्बार्कपीठाधिपति

श्रीकेशवकाश्मीरि भट्टाचार्य कृत

श्रीकृष्ण-तत्व प्रकाशिका टीका संवलिता

#卐 वेदस्तुतिः 卐
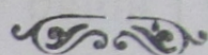
सनन्दनपदद्वन्द्वं भक्तिनम्रं कचेतसा ।
प्रणाम्य क्रियते व्याख्या ब्राह्म्यौपनिषदी मया ।।१।।

श्रीराधा पद पद्म सौरभयुजो वृन्दावनस्याग्रहात्,
तस्या जन्ममहोत्सवेऽद्यदिवसे तत्प्रेरितस्तज्जनः ।
सर्वेषां विदुषाञ्च कौतुकमयो भूयात्प्रमोदो यथा,
भाषायां व्रजवल्लभो बितनुते श्रौतार्थसारं तथा ।।१।।
शुक्ले भाद्रपदे शुभे शशिदिने ज्येष्ठाभिधे भे मया,
ह्यारब्धा शशिवेद बिंशतिमिते सम्बत्सरे वैक्रमे ।
प्रातःकालघना कुले च गगने शीतोष्ण साम्ये गते,
प्रासादे मुदिते क्षणे नु रमया पूर्ति दधातु प्रभुः ।।२।।
श्रीनिम्बार्कं प्रणम्याथ काश्मीरिकेशवं पुनः ।
अस्मदाचार्य पर्य्यन्तान् सर्वानाचार्यपीठपान् ।।३।।
केशवेन कृता व्याख्या वेदस्तुतेस्तु संस्कृते ।
भाषानुवादस्तस्या वै क्रियते सरलात्मकः ।।४।।
भगवत्कथा सुकुशलो मिश्रवृन्दावन विहारी नामा ।
तेनाऽनुरोधितोऽहं करोमि सरलां लोकभाषाम् ।।५।।

तत्र श्रीदशमस्कंधे दुष्टभूभृतां निरोधलक्षणं द्वारीकृत्य दशमं लक्ष्यभूतमाश्रयं श्रीकृष्णं श्रीशुकेन तद् ब्रह्म-रुन्द्रेद्रादि-वाक्यै-स्तत्तद्गर्भस्तवादिस्थैरन्यस्कन्धस्थैश्च सर्वेषां विदुषां प्रमाणभूतैः

श्रीवेदस्तुति के टीकाकार श्रीकेशवकाश्मीरि भट्टाचार्य अपने सम्प्रदाय के पूर्वाचार्य श्रीसनकादिकों (सनक सनन्दन सनातन सनत्कुमारों) के चरण-कमलों की हार्दिक भक्ति-भावना-पूर्वक विनम्रचित्त से वन्दना करते हैं। इस प्रकरण में वक्ता होने से "सनन्दन" नाम लिया है। भागवत के इस अध्याय को ब्राह्मी उपनिषद् कहा है। वेदों के शिरोभाग को उपनिषत् कहते हैं। यद्यपि श्रीमद्भागवत में बहुत-सी भगवत्स्तुतियाँ हैं तथापि परमात्मा के निःस्वास स्वरूप श्रुतियों द्वारा कही हुई होने से इसे ब्राह्मी उपनिषत् मानना युक्तियुक्त ही है।

महापुराणों के सर्ग (पञ्चभूत तन्मात्रायें इन्द्रिय बुद्धि आदि की उत्पत्ति) विसर्ग सत्व रज आदि गुणों के वैषम्यानुसार पुरुषाविर्भाव) स्थितिः (वैकुण्ठविजय) पोषण (भगवान् का अनुग्रह) मन्वन्तर (तत्कालीन श्रेष्ठ धर्म) ऊतियाँ (कर्म-वासनायें) ईशानुकथा (आख्यानों सहित भगवान् के अवतार एवं उनके भक्तों की कथायें) निरोध (अपनी शक्तियों के सहित आत्मा का अनुशयन) मुक्ति (आगन्तुकरूप को छोड़कर वास्तविक स्वरूप में स्थित हो जाना) आश्रय (जहाँ यह आभास निरोध आविर्भाव तिरोभाव आदि लीलायें हो रहीं हैं) ये दश लक्षण बतलाये गये हैं अर्थात् महापुराणों में मुख्यतया उपर्युक्त इन दश विषयों का वर्णन रहता है। इन दशों को लक्षण और लक्ष्यरूप से दो विभागों में विभक्त किया जा सकता है उन्हें विशेषण और विशेष्य भी कह सकते हैं। इनमें सर्ग से लेकर मुक्ति पर्यन्त जो

शास्त्रविषयत्वेन प्रतिपादितं ज्ञात्वा, तस्यैव सर्वज्ञसर्वशक्तेर्ब्रह्मणो भगवतः स्वरूपगुणशक्तिज्ञानान् मोक्षलक्षणं फलं निर्णीय अन्येषां च स्वबुद्धिपरिकल्पितवेद विरुद्धकल्पनामाकलय्य, तद सम्भवं च निश्चित्यान्येषां तच्छ्रवणोत्सुकानां श्रद्धापशूनां स्वबुद्धिपरामर्श-हीनानां श्रीकृष्णे भगवति असंभावनादिनिवृत्तये राजा परी-क्षिन्महाभागवतः श्रीशुकं पृच्छतीत्येतदस्याध्यायस्य बीजम्। श्रीकृष्णस्य शास्त्रविषयत्वं प्रमाणसिद्धम्। तथा च श्रूयते—

नौ लक्षण बतलाये गये हैं इन्हें तो लक्षण एवं विशेषण मानना चाहिये और दशवाँ जो आश्रय है इसे लक्ष्य एवं विशेष्य तथा मुख्य समझना चाहिये। इस आशय को टीकाकार बतला रहे हैं कि श्रीमद्भागवत के दशम स्कन्ध में निरोधरूप लक्षण द्वारा लक्ष्यरूप दशवां आश्रय (परात्पर परब्रह्म श्रीकृष्ण) को श्रीशुकदेव मुनि ने ब्रह्मा, शंकर, इन्द्र आदि द्वारा तथा गर्भस्तुति (भा० १०।३) आदि विभिन्न विभिन्न स्तुतियों द्वारा समस्त शास्त्रों का प्रतिपाद्य विषय बतलाया है।

यह जान लेने पर यह भी निश्चित हो ही गया कि उन्हीं सर्वज्ञ सर्वशक्तिमान् सर्वव्यापी भगवान् श्रीकृष्ण के स्वरूप, गुण, शक्ति के ज्ञान से ही मोक्षस्वरूप (पुरुषार्थ) फल की सिद्धि हो सकेगी, जो व्यक्ति इसके विपरीत मनमानी वेद विरुद्ध कल्पना करते हैं वह असम्भव है। जो उन नास्तिकों की बातों पर विश्वास कर बैठते हैं उन बुद्धिहीन श्रद्धा पशुओं के चित्त में जो भगवान् श्रीकृष्ण में असम्भावना आदि की धारणा बन जाती है उसी दुर्धारणा की निवृत्ति के लिये राजा परीक्षित ने यह पूछा— यही इस सत्यासी संख्यावाले अध्याय के उत्थान का तात्पर्य है। यही बीज एवं प्रसंग संगति है।

"तं त्वौपनिषदं पुरुषं पृच्छामि[१] (बृ० ३।९।२६)। सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति[२] (क० २।१५)। सच्चिदानन्दरूपाय कृष्णायाक्लिष्टकारिणे। नमो वेदान्तवेद्याय गुरवे बुद्धिसाक्षिणे"[३] (गो० ता०) इत्यादि। सूत्रितं च "शास्त्र योनित्वात्"[४] (ब्र० सू० १।१।३)। स्मर्यते च भगवता स्वयमेव वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्य इति[५] (गी० १५।१५)। अन्यत्राऽपि "नारायणपरा वेदा[६]" इत्यादि। हरिवंशे तज्ज्ञानान्मुक्तिरपि प्रमाणसिद्धा "जुष्टं यदा पश्यत्यन्यमीशं तन्महिमानमिति वीतशोकः[७]।। (श्वे० ४।७) यदा पश्यः पश्यते रुक्मवर्णं कर्त्तारमीशं पुरुषं ब्रह्मयोनिम्।। तदा विद्वान्पुण्यपापे विधूय निरञ्जनः परमं साम्यमुपैति[८]।

भगवान् श्रीकृष्ण ही समस्त शास्त्रों के प्रतिपाद्य विषय हैं। इस आशय के प्रमाण :—हम उस परम पुरुष को पूछ रहे हैं जो उपनिषदों (वेदों) द्वारा जाने जाते हैं।[१] सभी वेद उन्हीं का मनन करते हैं।[२] सच्चिदानन्द स्वरूप समस्त मायिक क्लेशों को शान्त करनेवाले, वेदान्त वेद्य श्रीकृष्ण को हम नमन करते हैं। जो सबकी बुद्धि के साक्षी और गुरुस्वरूप हैं।[३] उपर्युक्त इन श्रुतियों के अर्थ का ही श्रीवेदव्यासजी ने ब्रह्मसूत्रों के द्वारा भी स्पष्ट किया है—परब्रह्म का ज्ञान शास्त्रों द्वारा ही हो सकता है।[४] स्वयं श्रीकृष्ण प्रभु ने श्रीमुख से भी इसी आशय की पुष्टि की है—सम्पूर्ण वेदों द्वारा जानने योग्य मैं ही हूँ।[५] और भी बहुत से प्रमाण हैं—समस्त वेद नारायणपरक ही हैं।[६] हरिवंशपुराण में भगवान् श्रीकृष्ण के स्वरूप गुण आदि के ज्ञान से ही मुक्ति होना बतलाया है। जब भक्तिभाव पूर्वक अपना स्वामी समझकर परमात्मा की साधक आराधना करता है और उनके ऐश्वर्य को जान लेता है तब समस्त शोकों से विमुक्त हो जाता है।[७]

जब रुक्मवर्णवाले जगत्कर्ता सर्वनियन्ता परमपुरुष परम-

(मुं० ३।१।२) तमेव विदित्वातिमृत्युमेति,[९] (यजु० १।१५) पृथगात्मानं प्रेरितारं च मत्वा,[१०] (श्वे० १।६) संसार बन्धस्थितिमोक्षहेतुरि"[११] (श्वे० ६।१६) त्याद्याः श्रुतयः। भोक्तारं यज्ञतपसां सर्वलोकमहेश्वरं सुहृदं सर्वभूतानां ज्ञात्वामां शान्तिमृच्छति। (गी० ५।२९) ततो मां तत्त्वतो ज्ञात्वा विशते तदनन्तरम्[१२] (गी० १८।५५)। इदं ज्ञानमुपाश्रित्य मम साधर्म्यमागता"[१३] इतिस्मृतेः। तन्निष्ठस्य मोक्षोपदेशादि" त्यादिन्यायाच्च (ब्र० सू० १।१।७)। भगवता पराशरेणापि कैमुत्यन्यायेन श्रीकृष्णस्यैव ज्ञानान्मुक्तिः प्रतिपादिता चतुर्थांशे वंशावल्याम्—

ब्रह्म का साधक साक्षात्कार कर लेता है, तब वह विद्वान् समस्त पाप पुण्यों से मुक्त एवं निष्कलमष हो परमात्मा के साम्यभाव (मोक्ष) को प्राप्त हो जाता है।[८] उसी को जानकर एवं उन्हीं की उपासना करके, मृत्यु को जीत सकता है।[९] आत्मा को पृथक अपना प्रेरक समझकर।[१०] वह सृष्टि स्थिति और मोक्ष करनेवाला है।[११] इत्यादि श्रुतियों द्वारा श्रीकृष्ण को ही समस्त शास्त्रों का प्रतिपाद्य विषय माना है।

भगवान् स्वयं कहते हैं कि मुझ परमात्मा को जो समस्त यज्ञ तपों का भोक्ता, समस्त लोकों का नियन्ता और समस्त भूत प्राणियों का सुहृद जानता है उसे शान्ति प्राप्त हो जाती है। फिर जो मुझे तत्वतः जान लेता है वह मुझ में प्रविष्ट हो जाता है।[१२] मेरे बतलाये हुए ज्ञान का आश्रय लेकर बहुत से साधक जीव, मेरे समान बन गये।[१३] इत्यादि गीतारूप स्मृतियों का भाव है। श्रीवेदव्यासजी ने भी ब्रह्मसूत्र १।१।७ में भगवान में निष्ठा रखनेवाले जीव को ही मुक्ति का अधिकारी बतलाया है। श्रीवेदव्यासजी के पिता श्रीपाराशरजी ने भी कैमुत्य न्याय से भगवान् श्रीकृष्ण के स्वरूप ज्ञान से ही मोक्ष प्राप्त होने का प्रतिपादन

"तच्च रूपमुत्फुल्लपद्मदलामलाक्षमत्युज्ज्वलपीतवस्त्रधार्यमल-किरीटकेयूरकटकोपशोभितमुदारपीवरचतुर्बाहु शंखचक्रगदाधर-मतिरूढवैरानुभावोऽटनभोजनस्नानाशनशयनादिष्ववस्थान्तरेषु नैवापययावस्यात्मचेतसः। ततस्तमेवाक्रोशेषूच्चार यंस्तमेव हृदये धारयान्नात्मन्यवधाय भगवदस्त्रचक्रांशु मालोज्ज्वलम-क्षयतेजः स्वरूपं परं ब्रह्मरूपमपगतरागद्वेषादिदोषं भगवन्त-मद्राक्षीत्। तावद्भगवच्चक्रेणाशुव्यापादितस्तेन तत्स्मरण-दग्धाखिलाघसंचयो भगवतैवान्तरमुपनीतस्तस्मिन्नेव लयमुप-ययौ। "एतत्तवाभिहितं भगवानिह कीर्त्तितः संस्मृतश्च द्वेषानुबंधेनाप्यखिलसुरासुरदुर्लभं फलं प्रयच्छति किमुतसम्यक्-

---

किया है। विष्णुपुराण के चतुर्थांश वंशावली प्रकरण में कहा है कि प्रफुल्लित पद्म-पत्र के समान स्वच्छ नेत्रोंवाले, अत्यन्त उज्ज्वल चमकीले पीताम्बरधारी, सुन्दर किरीट-केयूर कंकणादि से सुशोभित उदार पुष्ट चारों भुजाओं में शंख चक्र गदा आदि आयुध धारण किये हुए भगवान श्रीकृष्ण का ही जन्म-जन्मान्तरों से जमी हुई विद्वेष की भावनावाला शिशुपाल चलते-फिरते खाते-पीते न्हाते-धोते सोते-जागते आदि सभी स्थितियों में निरन्तर वैर-भाव से चिन्तन करता रहता था। वही रूप उसके हृदय में जम गया। उन्हीं को निन्दित वचन कहता था और उसी राग-द्वेष से निर्लिप्त कोटि सूर्य समान प्रभावाले चक्र राजधारी अक्षय तेजः-स्वरूप परंब्रह्म को हृदय में भी देखता रहा, उसी क्षण चक्रसुदर्शन ने उसे मार डाला, भगवान् के चिन्तन स्मरण से उसके समस्त पापों का संचय जल गया, भगवान् ने अपने अन्दर उसे ले लिया वह भी श्रीकृष्ण में ही लीन हो गया। यह आप से हमने कह दिया कि भगवान् के नाम का कीर्तन या स्मरण करनेवाला चाहे कोई विद्वेषी भावना से भी क्यों न करे उसे भी प्रभु सुरासुर दुर्लभ फल

भक्तिमते" त्यादिदण्डकः। केचित्तु "एवं स्वभक्तयोः राजन् भगवान् भक्तभक्तिमान्॥ उषित्वाऽऽदिश्य सन्मार्गं पुनर्द्वारवती-मगादि" त्यत्र सतां स्वतः प्रमाणभूतानामप्रामाण्यकारण-शून्यानां वेदानां मार्गं निर्गुणब्रह्मपरत्वमुपदिश्य द्वारवतीमगा-दित्येतदस्याध्यायस्योत्थानिकाबीजं कल्पयन्ति। तदसत्। पूर्वाध्याये द्वयोर्विप्रराज्ञोरेकतरस्याऽपि तेषां विवक्षितार्थस्य भगवताऽनुपदिष्टत्वात्। ग्रन्थान्तरे च क्वाप्यप्रसिद्धेरतोऽस्म-दुक्तस्यैव वरीयस्त्वं।

प्रदान कर देते हैं तब प्रेमाभक्ति से भगवत् आराधना करनेवाले के लिये तो कहना ही क्या है।

यहाँ कुछ सज्जन※ इस अध्याय के उत्थान की संगति दूसरे प्रकार से भी लगाते हैं। उनका कहना है कि भा० स्क० १० अ० ८६ के अन्तिम श्लोक "एवं स्वभक्तयो०" के उत्तरार्ध के "उषित्वाऽऽदिश्य सन्मार्गं०" पद के "सन्मार्ग" शब्द का तात्पर्य निर्गुण ब्रह्मपरक वेद मार्ग मानाना चाहिये। उसी का उपदेश देकर भगवान् द्वारकापुरी को पधार गये। अतएव भगवान के द्वारा वेदों को निर्गुण ब्रह्मपरक मानने का जो आदेश दिया गया वही इस ८७वें अध्याय के उत्थान का बीज समझना चाहिये, ऐसी कल्पना करते हैं, किन्तु वह ऐसी कल्पना संगतिसंगत नहीं हो सकती। क्योंकि पूर्वाध्याय में श्रुतदेव या राजा बहुलाश्व दोनों में से किसी एक को भी भगवान् ने ऐसा उपदेश नहीं दिया। किसी अन्य ग्रन्थ में भी ऐसा उल्लेख कहीं भी नहीं मिलता। इसलिये हमने जो इस अध्याय के उत्थान की संगति दिखाई है—वही सुन्दर है।

※ भागवत के सुप्रतिष्ठित प्राचीन टीकाकार श्री श्रीधर स्वामी।

पूर्वश्लोकश्चैवमन्वेतव्यः। स्वभक्तयोः समीपे उषित्वा विप्राय सन्मार्ग* भागवतानां भगवतोऽप्यधिक पूजार्हत्वमादिश्य द्वारवतीमगादिति। तथा च वक्ष्यते "मद्भक्तपूजाभ्यधिकेति"।

यदि ८७वें अध्याय के उत्थान का बीज श्रीकृष्ण भगवान् के स्वरूप गुणादि के ज्ञात होने पर ही मुक्ति होने के सम्बन्ध में असम्भावनादि की निवृत्ति के लिये ही इस अध्याय के उत्थान का बीज माना जाय तो पूर्ववाले ८६वें अध्याय के अन्तिम श्लोक का सम्बन्ध किस प्रकार से लगेगा? इस जिज्ञासा का समाधान यही है कि अपने दोनों (श्रुतदेव बहुलाश्च) भक्तों के पास रहकर श्रुतदेव ब्राह्मण को भगवान् से भी अधिक भगवद्भक्त पूजनीय हैं, यह आदेश देकर भगवान् द्वारिका को पधार गये। इसी आशय को श्रीमद्भागवत के विभिन्न स्थलों में ही कहा है कि मेरे भक्तों की

* ब्रह्मंस्तेऽनुग्रहार्थाय संप्राप्तान् विद्ध्यमून्मुनीन्॥ संचरन्ति-मयालोकान् पुनन्तः पादरेणुभिः" इत्यारभ्य "तस्माद्ब्रह्मऋषीनेतान् ब्रह्मन्मच्छ्रद्धयार्चय। एवंचेदर्चितोऽस्म्यद्धा नान्यथाभूरिभूतिभिरिति। न ह्यम्ममयानि तीर्थानि, न देवा मृच्छिलामयाः॥ ते पुनंत्युरूकालेन दर्शनादेव साधवः। संतो दिशंतिचक्षूंषि बहिरर्कसमुत्थितः॥ देवता बान्धवाः संतः, संत आत्माहंमेव च। रहूगणैतत्तपसा न याति न चेज्यया निर्वपणाद्गृहाद्वा। नच्छन्दसा नैव जलाग्निसूर्यैर्विनामहत्पादरजोऽभि-षेकम्॥ आराधनानां सर्वेषां विष्णोराराधनं परमं। तस्मात्परतरं देवि तदीयानांच सेवनम्। अर्चयित्वा तु गोविन्दं तदीयान्नार्चयंति ये। न ते कृष्णप्रसादस्य भाजना दाम्भिका जनाः॥ नैवेद्यं परतो न्यस्तं चक्षुषा गृह्यते मया। रसं वैष्णवजिह्वाग्रेचाश्नामिकमलोद्भव। यस्याऽऽत्मबुद्धिः कुणपेत्रिधातुके स्वधीः कलत्रादिषु भौमईज्यधीः॥ यत्तीर्थबुद्धिः सलिले न कर्हिचित् जनेष्वभिज्ञेषु सएव गोखरः"॥ इति॥

अत्रापि "भक्तभक्तिमानिति" विशेषणसार्थक्यमुक्तम्॥ इदानीं प्रकृतं व्याख्यायते। शब्दवृत्तिस्तावद्द्विधा "मुख्या जघन्याचेति"। मुख्यानाम सामान्यविशिष्टव्यक्तिविषयाऽस्मात्पदादयमर्थो बोद्धव्य इतीश्वरेच्छारूपसंकेतः शक्तिरिति तार्किकाः। सामान्यमात्र विषयः[१] स्वाभाविक एवार्थप्रतितिजननसामर्थ्यलक्षणसम्बन्ध इतिमीमांसकाः। सा च त्रिविधा, योगो रूढिर्योगरूढिश्चेति। तत्रा-

पूजा मेरी पूजा से भी श्रेष्ठ है। ऐसा आदेश देकर भगवान् द्वारिका को पधार गये। उपर्युक्त आशय की पुष्टि पूर्वाध्याय (भा० १०।८६) के अन्तिम श्लोक के दूसरे पाद "भगवान् भक्त भक्ति-मान्" पद से ही हो रही है, यहाँ भक्तभक्तिमान् यह भगवान् का विशेषण है, अर्थात् भगवान् अपने भक्तों की भक्ति करते हैं, पालन, पोषण, रक्षा, सेवा, श्रुश्रूषा करते हैं इतना ही नहीं उनके आधीन हो जाते हैं, जहाँ भी भक्त हो उसे देखने को दौड़ते हैं। अतः उपर्युक्त उत्थानिका बीज एवं सन्मार्ग शब्द का तात्पर्य्य— "भागवतों (भगवद्भक्तों) की पूजा भगवान् की पूजा से भी अधिक महत्वपूर्ण है" यही समझना चाहिये। ऐसा मानने पर ही "भगवान् भक्तभक्तिमान्" यहाँ का यह भक्तभक्तिमान् भगवान् का विशेषण सार्थक हो सकता है।

अब प्रासंगिक व्याख्या की जाती है:—शब्द की वृत्ति (शक्ति) दो प्रकार की मानी जाती है, मुख्य और जघन्या, तार्किकों (नैय्यायिकों) के मत से वह सामन्य विशिष्ट व्यक्ति-विषयक—इस पद का यह अर्थ जानना चाहिये" ऐसे ईश्वरीय इच्छारूप संकेत को ही वृत्ति (शक्ति) कहते हैं। मीमांसकों का कहना है कि केवल सामान्यमात्र विषयक स्वाभाविक अर्थ की

१. जातिर्विषयो यस्य।

वयवयोगसापेक्षतयार्थज्ञापको योगः। यथा माधवः, लक्ष्मीकान्तः, वासुदेवः, नियन्ता, शास्तेति सर्वाविप्रतिपन्नयोगेन प्रवृत्तिः। जात्यादिविशिष्टवस्तुप्रतिपादिकाऽवयवनिरपेक्षारूढिः। यथा घटः, हरिः ब्राह्मणः, कपित्थः, नीलं पीतिमा। उभयप्रवृत्तिहेतुको तृतीया, यथा सोमः, पङ्कजम्। जघन्याऽपि द्विधा। लक्षणा गौणी चेति। तत्र शक्यसम्बन्धो लक्षणा। यथा गङ्गायांघोष

प्रतीति करानेवाले सामर्थ्यरूप सम्बन्ध को ही वृत्ति एवं शक्ति समझना चाहिये। वह शक्ति तीन प्रकार की है :—योग, रूढि और योगरूढि। जो अवयव (प्रकृतिप्रत्यय) योग की अपेक्षा रखकर अर्थ का ज्ञापन करे, उसे योग कहते हैं। जैसे माधव शब्द का अर्थ लक्ष्मीकान्त होता है, यह योगवृत्ति का उदाहरण है—मा=लक्ष्मी, धव=कान्त। इसी प्रकार वासुदेव, नियन्ता, शास्ता इत्यादि शब्दों को योगवृत्ति के उदाहरणों में समझना चाहिये।

जो अवयव अर्थ की अपेक्षा न रखकर जाति आदि-विशिष्ट वस्तु का प्रतिपादन करे वह रूढि वृत्ति कहलाती है। जैसे घट, हरिः, ब्राह्मण, कपित्थ, नीलं पीतिमा। इन शब्दों में प्रकृति प्रत्यय के अर्थ को जानने की अपेक्षा नहीं। जिन शब्दों में योग और रूढि दोनों के विचार द्वारा अर्थ निर्धारित किया जाय वह योगरूढि वृत्ति कहलाती है। जैसे सोम और पङ्कज आदि शब्दों के अर्थ का निर्णय किया जाता है। पङ्काज्जायते इति पङ्कजः। यहाँ योगवृत्ति से अर्थ निकला कीचड़ से उत्पन्न होनेवाला (पङ्कज) और रूढि के द्वारा तो पंकज शब्द का तात्पर्य कमल होता ही है।

दूसरी जघन्यावृत्ति के भी दो भेद होते हैं। १–लक्षणा और २–गौणी। शब्दार्थ (शक्य) के सम्बन्धी अर्थ का द्योतन करनेवाली कल्पना को लक्षणा कहते हैं। उदाहरणार्थ "गंगायां

इत्यत्र प्रवाहशक्तस्य गङ्गापदस्य तत्सम्बन्धे तीरे वृत्तिः। अत्र चोद्देश्यविधेयान्वयानुपपत्तिर्बीजम्। यथा वा मञ्चाः क्रोशंत इत्यत्र मञ्चशक्तस्य मञ्चपदस्य मञ्चसम्बन्धिषु पुरुषेषु वृत्तिः॥ शक्यवृत्तिलक्ष्यमाण गुणसम्बन्धो गौणी। यथा 'सिंहोमाणवक' इत्यत्र सिंहवृत्तिक्रौर्यादिगुणलक्षणया तद्वति माणवके वृत्तिरिति। अतएव लक्षणा गौणीतो बलवती। गोण्या वृत्तिद्वयात्मकत्वात्। सैव लक्षितलक्षणेति कैश्चिदुच्यते। तदुक्तम् "अभिधेयाविनाभूत-

---

घोषः" यह वाक्य लेना चाहिये। गंगा शब्द का तात्पर्य है—गंगा का प्रवाह, उसमें घोष अर्थात् टपरी है। इस उद्देश्य से प्रयुक्त किये हुए "गंगायां घोषः" इस वाक्य की संगति नहीं लग सकती, इसलिये गंगा (गङ्गाप्रवाह) पद का सम्बन्धी गंगा का तट लिया जाता है। उसका तात्पर्य हुआ गंगा के तट पर टपरी (झोंपडी) है। उद्देश्य और विधेय का अन्वय न लगने से लक्षणावृत्ति से उसके सम्बन्धी का ग्रहण करना पड़ता है। मञ्चाक्रोशन्ति आदि अन्य वाक्यों का भी उदाहरण लक्षणा के दे सकते हैं। मञ्च जड़ हैं अतः उनमें वाणी नहीं है, वे आक्रोश नहीं कर सकते, इसलिये वाक्य की संगति बैठाने के लिये मञ्च पद से मञ्चों पर बैठे हुए व्यक्तियों (मञ्चस्थों) का ग्रहण किया जाता है। वे आक्रोश कर सकते हैं। शक्य (शब्दार्थ) वृत्ति लक्ष्यमाण गुण से सम्बन्धी पर्य्यन्त अर्थ के द्योतक वृत्ति को गौणी वृत्ति कहते हैं। जैसे "सिंहो माणवकः" इस वाक्य में कहा हुआ माणवक सिंह तो नहीं हो सकता किन्तु सिंह में जो क्रूरता आदि गुण होते हैं वे इस बच्चे में हैं। यह गौणी वृत्ति कहलाती है। गौणी से लक्षणा बलवती होती है क्योंकि गौणीवृत्ति दो में रहती है और लक्षणा एक में ही रहती है। गौणी वृत्ति को भाट्टमीमांसक "लक्षित लक्षणा भी कहते हैं :—उनका कहना है कि अभिधेय-

प्रवृत्तिर्लक्षणोच्यते। लक्ष्यमाणगुणैर्योगाद्वृत्तेरिष्टा तु गौणतेति। व्यञ्जनाख्याऽपरावृत्तिरित्यालंकारिकाः। तेतु गौणीं लक्षणा-मध्येऽन्तर्भाव्य मुख्या लक्षणा व्यञ्जनाचेति वृत्तेस्त्रैविध्यमा-चक्षते। व्यंग्येनार्थज्ञापिका व्यञ्जना। यत्र गतोऽस्तमर्क इति वाक्यप्रयोगानन्तरं दूरं, मागा इति, पण्यान्यपसार्यन्तामिति, संन्ध्योपास्यतामित्यादि बहूनां बहुविधार्थप्रत्यया भवन्ति। तत्र न शक्तिर्न वा लक्षणा, किन्तु शब्दस्यैवान्वयव्यतिरेकाभ्यामपरा व्यञ्जनाख्या वृत्तिराश्रयणीयेति वदन्ति। तच्चिन्त्यं, शास्त्रकृद्भि-रूपेक्षितत्वात्॥ यत्तु "यौगिको योगरूढश्च, शब्दः स्यादौप-

सहकृत प्रवृत्ति लक्षणा कहलाती है और लक्ष्यमाण गुणों से युक्त वृत्ति को गौणी कहते हैं। आलंकारिक (साहित्यिक) एक और भी वृत्ति मानते हैं जिसे वे व्यञ्जना कहते हैं। वे गौणी को लक्षणा में ही अन्तर्भूत मानकर "मुख्या, लक्षणा और व्यञ्जना इन नामोंवाली तीन वृत्तियाँ मानते हैं। वह व्यञ्जना व्यंग के द्वारा अर्थ का ज्ञापन कराती है। उसका उदाहरण है, गतोऽस्त-मर्कः" अर्थात् सूर्य अस्त हो गया इतना कहते ही किसी ने उसका यह भाव समझा कि अब दूर मत जावो। दूसरे (किसी दूकानदार) ने दूकान बन्द कर देने की बात समझी, तीसरे किसी कर्मकाण्डो ने सन्ध्यावन्दन करना समझा। भिन्न-भिन्न व्यक्तियों को भिन्न-भिन्न प्रकार का बोध हुआ। सूर्यास्त हो गया इस अर्थ वाले वाक्य से न तो उपर्युक्त बोध मुख्यवृत्ति (शक्ति) द्वारा हुआ न लक्षणा द्वारा, अतः अन्वय व्यतिरेक बल से इस वाक्य का अर्थ व्यञ्जना वृत्ति से ज्ञात हुआ। इस वृत्ति को दार्शनिक विद्वान् महत्व नहीं देना चाहते अपितु इसकी उपेक्षा ही करते हैं।

वैयाकरणी विद्वान् योगिक, योगरूढ, औपचारिक, मुख्य, लाक्षणिक और गौण ऐसे छः प्रकार के शब्दों के प्रभेद मानते हैं।

चारिकः। मुख्यो लाक्षणिको गौणः शब्दः षोढानिगद्यते" इति-वैयाकरणैः षड्विधत्वमुक्तम्॥ तन्मुख्यजघन्ययोरेवान्तरभेद-मादाय योजनीयम्॥ तथाहि मुख्यो यौगिको योगरूढ इत्येकं मुख्यायां लाक्षणिक औपचारिको गौण इत्यपरं त्रिकं जघन्या-यामन्तर्भावनीयमिति। अवांतरभेदाश्चाकरे द्रष्टव्याः।

श्रीराजोवाच—

ब्रह्मन्ब्रह्मण्यनिर्देश्ये निर्गुणे गुणवृत्तयः।
कथं चरन्ति श्रुतयः साक्षात्सदसतः परे॥१॥

अन्वय—ब्रह्मन्, अनिर्देश्ये, निर्गुणे, सदसतः, परे, ब्रह्मणि, गुणवृत्तयः, श्रुतयः (वेदाः), साक्षात्, कथं, चरन्ति।

तत्र पृच्छति :—हे ब्रह्मन् ब्रह्मणि श्रुतयः कथं चरन्ति। कया वृत्त्या ब्रह्म प्रतिपादयन्तीत्यर्थः॥ कावात्रानुपपत्तिरित्या-शंकायां योगाद्यनुपपत्तिं दर्शयति अनिर्देश्य इति। अवयवसंज्ञा-

उन छहों भेदों को मुख्य और जघन्या इन दोनों वृत्तियों के ही अन्तर्गत मान लेना चाहिये। जैसे मुख्य, यौगिक और योगरूढ़ इन तीनों के त्रिक को मुख्यावृत्ति के अन्तर्गत समझा जाय और लाक्षणिक, औपचारिक, गौण इन तीनों के त्रिक को जघन्या के अन्तर्गत मान लेना चाहिये। इनके अवान्तर भेद तो और भी बहुत से हैं।[१] वे सब तत्तत् शास्त्रों में देखने चाहिये।

यही राजा परीक्षित पूछते हैं—कि हे ब्रह्मन् श्रुतियाँ ब्रह्म का प्रतिपादन (वर्णन) किस वृत्ति से करती हैं। यदि कोई पूछे कि श्रुतियों द्वारा ब्रह्म के प्रतिपादन होने में क्या अनुपपत्ति है? इस आकांक्षा का उत्तर "अनिर्देश्य पद के द्वारा दिया गया है।

१. साहित्य दर्पणकार ने १४४ भेद दिखाये हैं।

जात्यादिशून्ये योगादिवृत्तित्रयाविषये इत्यर्थः ।। "निष्कलं निष्क्रियं शान्तं निरवद्यं निरञ्जनमि"ति श्रुतेः । गौण्यावृत्ते-र्विषयमस्त्विवति चेत्तत्राह ।। निर्गुणे "केवलो निर्गुणश्चेति" श्रुतेः । लक्षणया प्रतिपाद्यत इति चेत्तत्राह ।। साक्षादिति ।। सम्बन्धादिशून्ये "यत्साक्षादपरोक्षाद् ब्रह्मे ति" श्रुतेः । तत्र हेतुः ।। सदसतः परे ।। स्थूलसूक्ष्मादिभावरहिते । "अस्थूल-मनण्वित्यादि" श्रुतेः ।। व्यतिरेके सर्वत्र हेतुः ।। "गुणवृत्तय" इति ।। निर्गुणेति अवयवजातिसंज्ञादेरुपलक्षणम् ।। श्रुतीनां

क्योंकि अवयव संज्ञा जाति आदि न होने से यौगिक रूढि आदि किसी भी वृत्ति का ब्रह्म में समावेश नहीं है । इस सम्बन्ध में "निष्कलं निष्क्रियं शान्तं निरवद्यं निरञ्जनम्" । श्वे० इत्यादि श्रुतियाँ वर्णन करती हैं । यदि कोई कहे कि मुख्य वृत्ति से ब्रह्म का प्रतिपादन नहीं हो सकता तो न हो, गौणी वृत्ति से श्रुतियाँ ब्रह्म का प्रतिपादन कर सकती हैं । इस जिज्ञासा का समाधान "निर्गुणे" इस पद के द्वारा किया गया है—तात्पर्य यह है कि ब्रह्म जब निर्गुण है तब गुण कहाँ से आयेगा । निर्गुण को गौणी वृत्ति से भी प्रतिपादन नहीं किया जा सकता । कोई कहे कि लक्षणावृत्ति से यदि ब्रह्म का प्रतिपादन किया जाय तब तो ठीक है ? नहीं । लक्षणावृत्ति से भी ब्रह्म का प्रतिपादन होना असम्भव है । क्योंकि शक्य के सम्बन्धी में लक्षणा की जाती है, ब्रह्म से किसी का वैसा सम्बन्ध नहीं है । ब्रह्म साक्षात् अपरोक्ष रूप माना गया है, वह सत् (कार्य रूप) से और असत् (कारण रूप) से भी परे है अर्थात् वह ब्रह्म न स्थूल है न सूक्ष्म ही है । इस कथन की पुष्टि "अस्थूल मनणु० इत्यादि" श्रुतियों में देखें । गुण-वृत्तियोंवाली श्रुतियाँ और निर्गुण इन दोनों प्रकार के वचनों को अवयव जातिसंज्ञा आदि का भी उपलक्षण मानना चाहिये ।

शब्दत्वेन गुणादि प्रतिपादनपरत्वादिति तात्पर्यार्थः ।।१।।

श्रीशुकउवाच—

देहेन्द्रियमनः प्राणान् जनानामसृजत्प्रभुः ।
मात्रार्थं च भवार्थं च आत्मने कल्पनाय च ।।२।।

अन्वय :—प्रभुः, जनानां, मात्रार्थं, च, भवार्थं, कल्पनाय, आत्मने, च, देहेन्द्रियमनः, प्राणान्, असृजत ।

पूर्वमङ्गलश्लोके प्रथमस्कन्धे स्वपितृश्रीव्यासोक्तं ब्रह्म-लक्षणं स्मारयन्नुत्तरमाह देह इति । प्रभुः परमेश्वरः सर्वज्ञः सर्वशक्तिः जनानां देहेन्द्रियमनः प्राणानसृजत् ।। तथा च श्रुतिः । "एतस्माज्जायते प्राणो मनः सर्वेन्द्रियाणि च । खं वायुर्ज्योति-रापश्चपृथिवी विश्वस्यधारिणी"ति तद्ब्रह्म तस्मिन्नेव श्रुतीनां-समन्वयः, न ततोऽन्यत्तत्त्वमिति प्रत्यभिज्ञापको वाशब्दः ।

सारांश यह है कि श्रुतियाँ शब्द रूप हैं और शब्द गुण आदि का ही प्रतिपादन कर सकते हैं, ब्रह्म गुण नहीं है, अतः श्रुतियाँ ब्रह्म का प्रतिपादन नहीं कर सकतीं ।।१।।

पहले प्रथम स्कन्ध के मंगल श्लोक में जो अपने पिता श्रीव्यासजी ने ब्रह्म का लक्षण बतलाया था उसी का स्मरण कराते हुए श्रीशुकदेवजी राजा परीक्षित के प्रश्न का उत्तर अब "देहेन्द्रिय इत्यादि श्लोक द्वारा दे रहे हैं—

प्रभु परमेश्वर सर्वशक्तिमान श्रीसर्वेश्वर ने जीवसमूह के लिये देह इन्द्रियाँ मन और प्राणों की रचना की । श्रुतियों में ही कहा है कि प्रभु से ही प्राण मन और समस्त इन्द्रियाँ उत्पन्न हुई हैं । आकाश वायु ज्योति जल और समस्त विश्व को धारण करने-वाली पृथ्वी जिससे उद्भूत होती है, वही ब्रह्म है । समस्त की समस्त ही श्रुतियाँ उसी का प्रतिपादन करती हैं । उसके अतिरिक्त

तैत्तिरीयके च स्पष्ट एव प्रत्यभिज्ञापकः "यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते येन जातानि जीवन्ति यत्प्रयंत्यभिसंविशन्ति तद्ब्रह्म, तद्विजिज्ञासस्वेति", पुनरपि यत्तदुत्थ सामान्यशंकानिरासार्थं तत्रैव स्पष्टितम् ।। "आनन्दाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्त आनन्देन जातानि जीवन्ति, आनन्दं प्रयन्त्यभिसंविशन्ति, तद्ब्रह्म तद्विजिज्ञासस्वे" त्यादिनाऽभ्यस्तं, नतु कारणभिन्नं किमपि जिज्ञासा विषयत्वेन प्रतिपादितम् । एवमेव भगवता सूत्रकृतापि ।। "अथातो ब्रह्मजिज्ञासेति ब्र० सू० १।१।१" जिज्ञास्यं प्रतिज्ञाय तथाभूतस्य ब्रह्मणः स्वरूपाकांक्षायां तदेवौपनिषदं ब्रह्म जगत्कारणभूतं ज्ञेयत्वेन लक्षणसूत्रे निर्णीतं, नान्यत् किमपीति ।।

है भी क्या ? इसी प्रत्यभिज्ञा का समर्थन वा शब्द करता है, जो तैत्तिरीय उपनिषद् के "यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते०" इत्यादि मन्त्र में स्पष्ट उल्लिखित है। वही ब्रह्म है, उसी को जानना चाहिये। फिर आगे भी जो जो शंकायें हुई हैं उनका समाधान उसी उपनिषद् में स्पष्ट रूप से किया गया है।

ब्रह्म सच्चिदानन्दस्वरूप है अतः जहाँ तहाँ आनन्द शब्द से भी उसका उल्लेख मिलता है, और यह भी कहा गया है कि उसी आनन्द से समस्त भूत प्राणी उत्पन्न होते हैं उसी में जीवन यापन करते हैं, उसी में मृत्यु होती है और मुक्तावस्था में उसी में सम्प्रविष्ट हो जाते हैं। इस प्रकार बारम्बार ब्रह्म आनन्द आदि शब्दों का अभ्यास (बारम्बार कथन) देखा जाता है। वेदों में किसी ऐसी वस्तु का प्रतिपादन नहीं किया गया जो जगत् के कारण से भिन्न हो। वेदान्तसूत्रों के रचयिता श्रीवेदव्यासजी ने भी प्रथमसूत्र में ही ब्रह्म को जिज्ञासा का विषय माना, जब ब्रह्म के स्वरूप की आकांक्षा हुई, तब उसी औपनिषद् (उपनिषदों द्वारा जानने योग्य जगत्कारण रूप) ब्रह्म का लक्षणसूत्र ("जन्माद्यस्य यतः"

ननु "यतो वाचो निवर्तन्ते, अप्राप्य मनसा सह। न चक्षुषा गृह्यते नापि वाचा, अशब्दमस्पर्शमरूप० क० १।३।१५, अपाणिपादो जवनो गृहीता पश्यत्यचक्षुः स शृणोत्यकर्णः, ई०। केवलो निर्गुणश्चे"त्यादिवाक्यपुंजैः प्रतिपादितं वस्तु कथमपह्नूयत इति चेन्न ।। तेषां वाक्यानां लौकिकवागादिविषयत्वेन मायातद्गुण सत्वादिकार्यतत्सम्बन्धनिषेधपरत्वात्, सर्वथाऽविषयत्वे ब्रह्मणोऽशास्त्रीयत्वेन शशश्रृङ्गतुल्यतापत्तेः ।। तथा च शास्त्रम् :— "सदा पश्यन्ति सूरयः, सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति, तं त्वौपनिषदं पुरुषं पृच्छामः। मनसैवानुद्रष्टव्यः, दृश्यतेत्वग्रया बुद्धया सूक्ष्मः सूक्ष्मात्मदर्शिभिः। सर्वरूपः सर्वगन्धः सर्वरसः। विश्वतश्चक्षुः",

---

ब्र० सू० १।१।२) द्वारा निर्णय किया, उसके अतिरिक्त अन्य किसी को ब्रह्म नहीं बतलाया।

हाँ कुछ ऐसे भी वेद वाक्य मिलते हैं जो उस ब्रह्म को वाणी आँख आदि इन्द्रियों और मन से भी जानने में न आ सकनेवाला बतलाते हैं, क्योंकि वह प्राकृतिक शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध आदि हेय गुणों से रहित केवल निर्गुण है। अतः किसी ऐसी वस्तु का भी अस्तित्व होगा जिसका वेद किसी भी प्रकार प्रतिपादन नहीं कर सकते।

इस कुतर्क का उत्तर :—ऐसे वेद वाक्यों का तात्पर्य यह समझना चाहिये कि वे लौकिक वाणी आदि इन्द्रियों और माया, उसके कार्य सत्वादि गुणों और उनके सम्बन्ध का ही निषेध करते हैं। यदि सर्वथा ही अविषय मानें तो वह ब्रह्म अशास्त्रीय होने के कारण खरगोस के सींग के समान हो जायेगा।

ऐसे भी वाक्य हैं कि उस ब्रह्म को मुक्त-आतमा सदा देखते रहते हैं। सब वेद उसी का प्रतिपादन करते हैं, वह उपनिषदों द्वारा जानने योग्य है। उसे मन से हो देखना चाहिये।

यः सर्वज्ञः, सर्वशक्तिरित्यादि "श्रुतिविरोधाच्च ।। लौकिकस्थूलबुद्ध्याद्यविषयत्वेन सूक्ष्मालौकिकैस्तदनुगृहीतैर्बुद्ध्यादिकरणैर्ग्राह्यमिति सर्वमनवद्यम् ।। ननु तत्त्वमस्यादि" वाक्यानां का गतिरिति चेच्छृणु :—तत्त्वंपदार्थयोरीश्वर-प्रत्यगात्मनोर्गुणा द्विविधाः, प्रातिभासिकस्वाभाविकभेदात् ।। तत्र प्रातिभासिकाश्च मायातद्गुणतत्कार्यजन्मादिविकार-सुखदुःखादयः । तत्रेश्वरजन्मादीनामाविर्भावमात्रेण दिव्यत्वादौपचारिकत्वं, जीवे चाविद्यकत्वादनित्यत्वमतउभयत्रापीश्वरजीवयोरधर्मत्वेन नेह नानास्ति किंचने" त्यादिनिषेधविषयत्वाद् समन्विताः । स्वाभा-

वह सूक्ष्म बुद्धि से देखा जाता है। वह सर्वरूप है, उसमें सभी प्रकार का गन्ध रूप और रस है। उसके अनन्त नेत्र हैं, वह सर्वज्ञ और सर्वशक्तिमान् है। इस प्रकार वर्णन करनेवाली श्रुतियों से क्या विरोध न होगा ? इसलिये यही मानना होगा कि वह ब्रह्म सर्वथा अविषय नहीं है, स्थूलबुद्धि आदि का विषय न होकर सूक्ष्म अलौकिक भगवदनुग्रहीत बुद्धि आदि करणों द्वारा ग्राह्य है। इस प्रकार से ब्रह्म को वेदवाणी इन्द्रियादि का अविषय माननेवाले तथा प्रतिपाद्य दृष्टव्य ग्राह्य माननेवाले दोनों ही प्रकार के वेदवाक्यों की संगति लग सकती है।

तत्वमसि आदि वाक्यों की संगति कैसे लगेगी ? वह भी सुनो। बतलाते हैं :—तत्पदार्थ ईश्वर और त्वं पदार्थ जीवात्मा इन दोनों के गुण दो प्रकार के हैं, एक प्रातिभासिक और दूसरे स्वाभाविक। माया उसके गुण, उनके कार्य जन्म आदि विकार सुख-दुःख आदि प्रातिभाषिक कहलाते हैं, ईश्वर के जन्म आदि तो आविर्भावमात्र होने से दिव्य हैं परन्तु हैं वे गौण ही। जीव में अविद्याकृत होने से वे अनित्य हैं। इस प्रकार ईश्वर और जीव इन दोनों के ही ये प्रातिभाषिक गुण धर्म नहीं माने

विकाश्च सर्वज्ञत्वसर्वशक्तित्वस्वतन्त्रत्वसर्वनियंतृत्वादय ईश्वरासाधारणाः। "यः सर्वज्ञः सर्ववित्ः, पराऽस्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते। स्वाभाविकी०। आत्मा हि परमः स्वतन्त्रोऽधिगुणः, अन्तः प्रविष्टः शास्ता जनानां एष सर्वाधिपतिरि"त्यादिश्रुतयः। "अधिकं तु भेदनिर्देशात् । भेदव्यपदेशाच्चान्यः, विवक्षितगुणोपपत्तेश्चे"त्यादि न्यायाच्च "मत्तः परतरं नान्यत्किंचिदस्ति धनञ्जय। ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुनतिष्ठती"त्यादि स्मृतयश्च। अल्पज्ञानपारतंत्र्याल्पशक्तित्वाणुत्वादयो जीवासाधारणाः। "जीवोऽल्पशक्तिरस्वतंत्रोऽवर" इतिभालवेयश्रुतिः। "एषोऽणुरात्मा चेतसा वेदितव्यः। बालाग्रशतभागस्य शतधा कल्पितस्यचे"त्यादिश्रुतेः। तद्गुणसारत्वात्, ज्ञोऽतएव"इत्यादिन्यायाच्च ।। स्वाभाविकत्वे च "न हि द्रष्टुर्दृष्टेर्विपरिलोपो विद्यतेऽविनाशित्वात्, नहि श्रोतुः श्रुतेः। नहि मंतुर्मतेः। नहि विज्ञातुर्विज्ञातेरि" त्याद्यारण्यकेऽभ्यासः प्रमाणम्। "यथोदपान-

जा सकते। "नेह नानास्ति किञ्चन" इत्यादि श्रुतियों द्वारा जो निषेध मिलता है वह इसी दृष्टिकोण से किया गया है, अतः वह सब समन्वित हो जाता है।

जो ईश्वर में सर्वज्ञत्व सर्वशक्तिमत्व स्वतन्त्रत्व सर्वनियन्तृत्व आदि गुणों का श्रुतियों द्वारा, वेदव्यासजी के ब्र० सू० १।१।१२, १।२।२, २।१।२१ और गीता अ० ७।७ तथा १८।६२ में वर्णन किया गया है वे गुण स्वाभाविक हैं। जीवात्मा में भी अल्पज्ञत्व, परतन्त्रत्व अल्पशक्तिमत्व अणुत्व आदि भालवेय आदि श्रुतियों द्वारा एवं ब्र० सू० २।३।१८, २।३।२८ संख्यावाले सूत्रों और स्मृति वाक्यों द्वारा वर्णित गुण स्वाभाविक हैं।

इस प्रकार सर्वज्ञत्व और अल्पज्ञत्व आदि स्वाभाविक धर्मों के कारण जीव और ईश्वर में भेद है किन्तु जो सत्य ज्ञान

खननात् क्रियते न जलान्तरम् । सदेव नीयते व्यक्तिमसतः संभवः कुतः ।। तथा हेयगुणध्वंसादवबोधादयो गुणाः । प्रकाश्यन्ते न जन्यन्ते नित्या एवात्मनो हि ते ।। यथा न क्रियते ज्योत्स्ना, मलप्रक्षालनान्मणेः । दोषप्रहाणान्न ज्ञानमात्मनः क्रियते तथेति" स्मरणाच्च । साधारणाश्च सत्यज्ञानपापस्पर्शाभावादयः । "सत्यं ज्ञानमनंतं ब्रह्म, स आत्माः कतमः । योऽयं विज्ञानमयः, य आत्माऽपहतपाप्मा" इत्यादिश्रुतेः । तत्रोभयत्रासाधारणै-रुदाहृतैः सर्वज्ञत्वादिभिरल्पज्ञानपारतन्त्र्यादिधर्मैर्भिन्नत्वे सति-उभय साधारणैः सत्यज्ञानादिधर्मैश्चाभिन्नस्त्वमसीति वाक्यार्थः । एष चार्थः सिद्धान्तजान्हव्यां शारीरिकमीमांसाचतुरध्यायि-व्याख्यायां श्रीभगवद्भिर्देवाचार्यैर्निपुणं प्रपञ्चितः ।

ननु जीवेश्वरयोरपि गुणानां मायिकत्वात्सर्वेषां निषेध-विषयत्वमेव तथा चोक्तसिद्धान्तासिद्धिरिति चेन्न, किं तावन्मायि-कत्वं? मायाजन्यत्वं वा? शशविषाणतुल्यत्वं वा? स्वाभाविकानां सद्रूपाणामेवात्मद्वारा व्यक्तीकरणं वा ? नाद्यः मायाया जडत्वेन जनकत्वधर्म्मानधिकरणत्वात् ।। नापि द्वितीयः ।। सर्वप्रमाण-विरोधेन सर्वत्रातिप्रसंगात् । परिशेषात्तृतीय एवाकामेनापि त्वयाऽङ्गीकार्यं, तच्चास्माकमिष्टापत्तिः । आस्तां तावद्विकल्प-प्रसंगोऽस्माकं तु वैदिकानां भगवती श्रुति-स्मृतेश्चैव प्रामाण्यम् स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च"त्यादि श्रुतयः । स्मृतेश्च—पंचमांशे कालीयवाक्येन पराशरवचनम् ।। "तवाष्टगुणमैश्वर्यं नाथ स्वाभाविकं परं । निरस्तातिशयं यस्य तस्य स्तोष्यामि किं त्वहं" तत्रैव चतुर्थांशे ब्रह्मवचनं "कलामुहूर्तादिमयश्च कालो न यद्विभूतेः परिणामहेतु रित्यादि । तस्माद्भूमौष्ण्यादीनामग्नि-

---

आदि साधारण धर्म दोनों में रहते हैं उन धर्मों के कारण आत्मा (जीवात्मा) का ईश्वर से अभेद भी है । यह तत्वमसि वाक्य का तात्पर्य है। तत्वमसि वाक्य का ऐसा अर्थ चार अध्यायवाली शारीरिक मीमांसा (वेदान्तसूत्र०) की सिद्धान्त जान्हवीवृत्ति कार श्रीदेवाचार्यजी ने किया है ।

शंका :—यदि जीव और ईश्वर के गुणों को मायिक मान लें तो सभी गुणों का निषेध हो जाय अतः आपका उपर्युक्त भेदाभेद सिद्धान्त स्थिर नहीं हो सकेगा। ऐसी शंका नहीं करना चाहिये। इस शंका का खण्डन इस प्रकार किया जाता है :—वादी पहले यह बतावें कि मायिकत्व किसे कहते हैं। माया जन्य को मायिक कहेंगे या शश विषाण तुल्य को ? अथवा स्वाभाविक सद्रूप गुणों का आत्मा के द्वारा व्यक्तिकरण ही मायिक है। इन तीनों विकल्पों में पहला तो हो नहीं सकता क्योंकि—माया जड़ है अतः उसमें जनकत्व धर्म नहीं है। दूसरा विकल्प भी ठीक नहीं है, क्योंकि सब प्रमाणों के विरुद्ध होने से सर्वत्र अति प्रसंग दोष आयेगा। परिशेषात् तीसरा विकल्प न चाहते हुए भी तुम्हें अंगीकार करना पड़ेगा। उसमें हमें तो इष्टापत्ति ही है। अस्तु, छोड़ें इस विकल्प प्रसंग को, हम तो वैदिक हैं, भगवती श्रुतिस्मृतियाँ ही हमारे प्रमाण हैं। श्रुति ज्ञान बल क्रिया आदि गुणों को स्वाभाविक बतलाती है। स्मृतियों में विष्णुपुराण के पञ्चम अंश में काली के प्रसंग में श्रीपाराशरजी ने इसी आशय के वचन कहे हैं—हे प्रभो! आपमें, अपहत पापमत्व, जरा रहितत्व, अमरत्व, विशोकत्व, अविजि-घित्स्व, भूख प्यास रहितत्व, सत्यकामत्व, सत्यसंकल्पत्व ये आठों गुण स्वाभाविक हैं। उसी विष्णुपुराण के चतुर्थांश में ब्रह्माजी के वचन हैं कि—परमेश्वर की विभूति को कला मुहूर्त आदि रूप-वाला काल भी विपरिणित नहीं कर सकता, क्योंकि उनका वैभव नित्य है।

गुणानामिव ब्रह्मगुणानामप्युभयप्रकारकत्वमविरुद्धम् । यथाग्नौ धूमो न तद्गुणः, किन्तु काष्टार्द्रत्वेन कृतोऽग्नौ प्रतिभासते ॥ औष्ण्यप्रकाशादयस्तु स्वाभाविकास्तस्यैव गुणाः । एवमेव मायागुणाः सत्त्वादयो ब्रह्मणि भासमानाः प्रातिभासिकाः । सर्वज्ञत्वादयश्च स्वाभाविका इति ॥ अत्रापि न विवादावकाशः ॥ तत्र

इसलिये जिस प्रकार अग्नि के धूम और उष्णता दोनों क्रमशः प्रातिभासिक और स्वाभाविक गुण हैं उसी प्रकार ब्रह्म के गुण भी दोनों प्रकार के हैं। जैसे अग्नि में धूम गीले काठ के संयोग से उत्पन्न होता है, वह धूम अग्नि का स्वाभाविक गुण नहीं अपितु प्रातिभासिक है, किन्तु उष्णता और प्रकाशकत्व उसके स्वाभाविक गुण हैं। उसी प्रकार माया के जो गुण ब्रह्म में भाषित होते हैं, वे प्रातिभासिक हैं, और सर्वज्ञत्व आदि गुण स्वाभाविक हैं। इस कथन में किसी भी प्रकार का विवाद नहीं।

प्रभु जीवों के देह इन्द्रियादि की रचना किस प्रयोजन के लिये करते हैं—इस जिज्ञासा का समाधान अब आगे किया जाता है :—

भगवान् जीवों को विषय भोगादि के लिये और कल्याण प्राप्ति के लिये देह इन्द्रियादि की रचना करते हैं। यहाँ "मात्रा" शब्द का तात्पर्य विषय है और भव शब्द का तात्पर्य भद्र=कल्याण है। कोषकारों ने "भवो भद्रे हरे आप्तौ" इत्यादि वचनों से भव शब्द को कल्याण शंकर और आप्ति इन अर्थों में माना है।

इस श्लोक के चतुर्थ पाद "आत्मने कल्पनाय च" यह कल्पनाय शब्द आत्मा का विशेषण है। कल्पनाय का तात्पर्य है, वासनायुक्त, आत्मा=जीव के भोग मोक्ष की सिद्धि के लिये देह

प्रयोजनमाह–"आत्मने जीवाय मात्रार्थं विषयार्थं, भवार्थंभद्रार्थं, भवो भद्रे हरे आप्ताविति प्रमाणात्, कल्याणार्थमितियावत्"। कथंभूताय जीवाय 'कल्पनाय' वासनायुक्ताय, तद्भोगमोक्षसिद्धये इत्यर्थः। चकारो भोगमोक्षसाधनभूतौ अर्थ-धर्मौ समुच्चिनोति ॥२॥

सैषा ह्युपनिषद्ब्राह्मी पूर्वेषां पूर्वजैर्धृता।
श्रद्धया धारयेद्यस्तां क्षेमं गच्छेदकिंचनः ॥३॥

अन्वय—सा एषा ब्राह्मी उपनिषद् पूर्वेषां पूर्वजैः धृता यः अकिञ्चनः तां श्रद्धया धारयेत् सः क्षेमं गच्छेत्।

इन्द्रियादिक की रचना की, चकार भोग मोक्ष के साधनस्वरूप धर्म और अर्थ का समुच्चायक है।

कुछ टीकाकार यहाँ अकार की कल्पना करके "ऽकल्पनाय" पाठ मानते हैं और उसका अर्थ "मोक्ष के लिये" ऐसा करते हैं। उनमें श्रीधर स्वामी अग्रणीय हैं। किन्तु श्रीसुदर्शनसूरि[1], श्रीविजयध्वजतीर्थ[2], श्रीवामन[3] आदि टीकाकारों ने कल्पनाय पाठ ही माना है ॥२॥

वह यह ब्राह्मी (ब्रह्मसम्बन्धिनी (उपनिषत्) पूर्वजों के भी पूर्वज सनकादिकों द्वारा धारण की गई थी। जो दैन्यादि गुणयुक्त साधक श्रद्धापूर्वक इसका चिन्तन करेगा उसे परमशान्ति प्राप्त होगी ॥३॥

---

१. शुकपक्षीय। २. पद रत्नावली। ३. श्रुतिकल्पलता टीका।

अत्र ते कीर्तयिष्यामि गाथां नारायणान्वितां ।
नारदस्य च संवादमृषेर्नारायणस्य च ॥४॥

अन्वय—अत्र ते नारायणाऽन्वितां ऋषेः नारदस्य च नारायणस्य सम्वादं कीर्तयिष्यामि ।

एकदा नारदो लोकान्पर्यटन्भगवत्प्रियः ।
सनातनमृषिं द्रुष्टं ययौ नारायणाश्रमम् ॥५॥

अन्वय—एकदा भगवत्प्रियः नारदः लोकान् पर्यटन् (सन्) सनातनं ऋषिं द्रष्टुं नारायणाश्रमं, ययौ ।

यो वै भारतवर्षेऽस्मिन्क्षेमाय स्वस्तये नृणाम् ।
धर्मज्ञानसमोपेतमाकल्पादास्थितस्तपः ॥६॥

अन्वय—यः वै अस्मिन् भारते वर्षे नृणां स्वस्तये क्षेमाय धर्म ज्ञान समोपेतं तपः आकल्पात् आस्थितः ।

तत्रोपविष्टमृषिभिः कलापग्रामवासिभिः ।
परीतं प्रणतोऽपृच्छदिदमेव कुरुद्वह ॥७॥

हे राजन् ? यहाँ श्रीनारायण और नारदजी के सम्वाद-रूप नारायणान्वित गाथा हम सुनायेंगे ॥४॥

एक समय भगवत्प्रिय देवर्षि श्रीनारदजी लोकों में पर्यटन करते हुए सनातन (नारायण) ऋषि के दर्शनार्थ नारायण आश्रम में जा पहुँचे ॥५॥

जहाँ कि वे भारतवर्षीय नर-नारियों के कल्याण के लिये कल्पारम्भ से ही धर्म ज्ञान और शमयुक्त तपश्चर्या में स्थित हैं ॥६

हे कुरुकुल श्रेष्ठ वहाँ कलाप ग्राम निवासी ऋषियों से घिरे हुए श्रीनारायण ऋषि से विनम्रतापूर्वक श्रीनारदजी ने यही प्रश्न किया था ॥७॥

अन्वय—हे कुरुद्वह ? तत्र कलापग्रामवासिभिः ऋषिभिः परीतं (सह) उपविष्टं प्रणतः इदं एव अपृच्छत् ।

तस्मै ह्यवोचद्भगवानृषीणां शृण्वतामिदम् ।
यो ब्रह्मवादः पूर्वेषां जनलोकनिवासिनाम् ॥८॥

अन्वय—भगवान् ऋषीणां शृण्वतां तस्मै इदं हि अवोचत् यः ब्रह्मवादः पूर्वेषां-जन-लोक निवासिनां (अभूत) ।

श्रीभगवानुवाच—

स्वायंभुव ब्रह्मसत्रं जनलोकेऽभवत्पुरा ।
तत्रत्यानां मानसानां मुनीनामूर्ध्वरेतसाम् ॥९॥

अन्वय—हे स्वायंभुव ! पुरा जनलोके तत्रत्यानां मानसानां ऊर्ध्वरेतसां मुनीनां ब्रह्मसत्रं अभवत् ।

श्वेतद्वीपं गतवति त्वयि द्रष्टुं तदीश्वरम् ।
ब्रह्मवादः सुसंवृत्तः श्रुतयो यत्र शेरते ॥१०॥

उपस्थित समस्त ऋषियों के सुनते हुए नारायण ऋषि ने वह ब्रह्मवाद नारदजी को सुनाया जो जनलोक निवासी प्राचीन ऋषियों में चला था ॥८॥

सनातन ऋषिरूप भगवान ने कहा—हे स्वायम्भुव ! प्राचीन समय में जनलोक में ब्रह्माजी के मानस पुत्र ऊर्ध्वरेता सनकादि मुनियों द्वारा ब्रह्मसत्र (ब्रह्मविचाररूप यज्ञ) हुआ था ॥९॥

उस समय आप वहाँ नहीं थे, श्वेतद्वीपाधिपति प्रभु के दर्शनार्थ वहाँ (श्वेतद्वीप में) गये हुए थे जहाँ समस्त श्रुतियाँ सर्वत्र फिर फिराकर विश्राम पाती हैं ॥१०॥

अन्वय—त्वयि तदीश्वरं द्रष्टुं श्वेतद्वीपं गतवति ब्रह्मवादः सुसंवृत्तः यत्र श्रुतयः शेरते ।

तत्र ह्ययमभूत्प्रश्नस्त्वं मां यदनुपृच्छसि ।
परिहारांश्च तान् सर्वान् वक्षेऽहं शृणु तेऽनघ ॥११॥

अन्वय—तत्र ह अयं प्रश्नः अभूत यं त्वं मां अनुपृच्छसि हे अनघ ! तान् सर्वान् परिहारान् च अहं वक्षे शृणु ।

तुल्यश्रुततपः शीलास्तुल्यस्वीयारिमध्यमाः ।
अपि चक्रुः प्रवचनमेकं शुश्रूषवोऽपरे ॥१२॥

अन्वय—तुल्यश्रुततपः शीला तुल्यस्वीयारिमध्यमाः अपि एकं प्रवचनं चक्रुः अपरे शुश्रूषवः (अभवन्) ।

सनन्दन उवाच—

स्वसृष्टमिदमापीय शयानं सह शक्तिभिः ।
तदन्ते बोधयांचक्रुस्तल्लिंगैः श्रुतयः परम् ॥१३॥

हे अनघ ! जो तुम हमें पूछ रहे हो (निर्गुण ब्रह्म का प्रतिपादन श्रुतियाँ किस वृत्ति से करती हैं) वही प्रश्न वहाँ उठा था । वह प्रश्न और उसका समाधान दोनों ही हम तुम्हें बतलाते हैं, उन सबको आप सावधान होकर सुन लीजिये ॥११॥

यद्यपि वे (सनकादिक चारों) श्रुत तप और शील (सत्स्वभाव) में सभी समान ही थे, तथा स्व पर और मध्यस्थता में भी समान ही थे तथापि उन्होंने उस ब्रह्मसत्र (सत्संग) में ऐसी सुव्यवस्था करना उचित समझा कि चारों में एक वक्ता और अन्य सब श्रोता बने रहें। अतः सनन्दनजी को वक्ता बनाया ॥१२

इदं स्वसृष्टं आपीय शक्तिभिः सह शयानं परं तदन्ते श्रुतयः तल्लिङ्गैः बोधयाञ्चक्रुः ।

यथा शयानं सम्राजं वंदिनस्तत्पराक्रमैः ।
प्रत्यूषेभ्येत्य शुश्लोकैर्बोधयंत्यनुजीविनः ॥१४॥

अन्वय—यथा अनुजीविनः वन्दिनः प्रत्यूषे अभ्येत्य शयानं सम्राजं तत्पराक्रमैः सुश्लोकैः बोधयन्ति ।

उपोद्घातश्लोका स्पष्टाः ॥

—★—

श्रीश्रुतय ऊचुः :—

जय जय जह्यजामजितदाषगृभातगुणां,
त्वमसि यदात्मना समवरुद्धसमस्तभगः ।

सनन्दनजी बोले :—अपने रचे हुए स्थावरजंगमरूप इस दृश्यमान विश्व को पीकर (अपने अन्दर लीन करके) अपनी शक्तियों के सहित शयन किये हुए परमात्मा के सन्निकट पहुँचकर जब कि प्रलयकाल पूर्ण हो चुका तब प्रभु की विरुदावली का गान करती हुई श्रुतियों ने प्रभु को जगाना आरम्भ किया ॥१३॥

जिस प्रकार सोये हुए सम्राट के पास प्रातःकाल अनुजीवी वन्दीजन पहुँचकर उसके पराक्रम की यशोगाथाओं द्वारा उन्हें जगाते हैं ॥१४॥

ये सब उपोद्घात रूप चौदह श्लोक सरल स्पष्टार्थ ही हैं। इसी कारण इनकी संस्कृत टीका नहीं की गई है।

अगजगदोकसामखिलशक्त्यवबोधक ते,
क्वचिदजयाऽऽत्मना च चरतोऽनुचरेन्निगमः ॥१५॥

अन्वय—हे अजित ! त्वं जय जय अगजगदोकसां दोषगृभीत-गुणां अजां जहि यत् त्वं आत्मना समवरुद्धसमस्तभगः असि अखिल-शक्त्यवबोधक क्वचित् अजया आत्मना च चरतः ते निगमः अनुचरेत् ।

हे 'अजित त्वं जय जय' स्वस्योत्कर्षमाविष्कुरु।[1] ननु असिद्धे पदार्थे विधिर्विशते, न स्वाभाविकोत्कर्षादावन्यथा नित्यत्वहानिरिति चेन्न स्वाभाविकस्यापि वस्तुन आविष्कार-मात्रेणाग्नेरौष्ण्यादेरिव न तत्र जन्यत्वादिदोषभाक्त्वम् । तथा सद्रूपस्यापि स्वाभाविकस्योत्कर्षादेर्जीवानां तद्विषयकाज्ञानं

हे अजित ! आपकी जय हो, आप किसी से हारनेवाले नहीं हैं, कोई भी आपको नहीं जीत सकता है। आप अपने उत्कर्ष को प्रकट कीजिये। यहाँ एक प्रश्न उठ सकता है कि जो कोई पदार्थ असिद्ध हो उसकी सिद्धि के लिये ही किसी न किसी प्रकार का विधान किया जाता है। भगवान् का उत्कर्ष तो स्वाभाविक नित्यसिद्ध है, यदि इसे स्वाभाविक न माना गया तो प्रभु का उत्कर्ष अनित्य हो जायेगा, किन्तु भगवान् का कोई भी गुण अनित्य नहीं माना गया है। इसलिये "त्वं जय जय" यह श्रुति की उक्ति संगति संगत नहीं।

उक्त शंका का समाधान :—"न" शब्द से टीकाकार करते हैं। और उपपत्ति प्रकट करके अपने कथन का समर्थन करते हैं, स्वाभाविक वस्तु का केवल आविष्कार कर देने से उसमें जन्यत्व (अनित्यत्व) दोष नहीं आता। जैसे अग्नि में उष्णता

१—प्रेरणस्याऽपि विधित्वात् विधिप्रयोगः।

वारयित्वा तज्ज्ञापनमात्रेण न क्षतिरित्यर्थः। उत्कर्षाद्याविष्कारे क्रियाकारणमित्यपेक्षायामाह। "अजां जहि" कथं भूतां, दोष गृभीतगुणाम्। जीवानां तव भजनवैमुख्यार्थं गृहीता गुणा यया ताम्। "हृग्रहोर्भश्छन्दसी"ति भगवान पाणिनिः। यथा "गृभ्णामि ते दक्षिणामि" त्यादिवैदिकप्रयोगः। उक्तार्थे शक्तिं द्योतयन्नाह "यद्यतः, आत्मना समवरुद्ध-समस्तभग" इति स्वतएवावरुद्ध-मनपगतं स्वाभाविकं समस्तमैश्वर्यंयस्येति, तथाभूतस्त्वमसि।

स्वाभाविक है उसे हवा आदि साधन से अभिव्यक्त कर देने पर यह नहीं माना जाता कि अग्नि में उष्णता पहले नहीं थी। उसी प्रकार प्रभु के सत्रूप स्वाभाविक उत्कर्ष आदि गुणों को जीवों के तद्विषयक अज्ञान को मिटाने के लिये श्रुतियों द्वारा ज्ञापन (स्मरण) मात्र दिलाने से कोई हानि नहीं।

अच्छा, उत्कर्ष आदि के आविष्कार हो जाने पर क्या होगा, फिर क्या करना पड़ेगा। कोई क्रिया कारण तो बतलाना चाहिये ? वही बतलाते हैं "अजां जहि" माया को हटाइये। कैसी है वह माया ? समस्त दोषों से युक्त गुणवाली, जीवों को आपके भजन व सेवा से विमुख करने के लिये ही उसने दोषगुणों को इकट्ठा कर रक्खा है। इस श्लोक में तो गृहीत पाठ नहीं है गृभीत पाठ है। इस शंका का समाधान यह है कि—वेदों में "हृ" और गृह के हकार को भ हो जाता है यह पाणिनी का सूत्र है—"हृगृहोर्भश्छन्दसि" स्वरवैदिकी उदाहरणार्थ "गृभ्णामि ते दक्षिणाम्" यहाँ गृह्णामि के स्थान में "गृभ्णामि" वैदिक प्रयोग हुआ है।

ऐसी प्रबल माया को बिना शक्ति के कैसे हटाया जायगा ? इसका समाधान है :—हे प्रभो ! आप समस्त ऐश्वर्यों से युक्त अनन्त शक्तिमान् हैं। वे ऐश्वर्य (ज्ञान शक्ति बल तेज आदि)

स्वतः सिद्धैकरसैश्वर्योऽसीत्यर्थः। "स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया चे"ति श्रुतेः। तत्र हेतुः। "हे अगजगदोकसामखिलशक्त्यवबोधक" चेतनाचेतनानां शक्तिप्रवर्त्तकः! प्रधानक्षेत्रज्ञपतिर्गुणेशः" इतिश्रुतेः। कारणावस्थं ब्रह्मस्वरूपं निरूप्य तस्यैव त्रैविध्यं कार्यावस्थं रूपं निरूपयन् "भोक्ता भोग्यं प्रेरितारं च मत्वा, सर्वं प्रोक्तं त्रिविधं ब्रह्म मेतत् इत्यादि श्रुतीनामर्थमाह-क्वचिदिति ॥ अजया जडात्मिकयाऽपराशब्दवाच्यया आत्मना-जीवेन पराशब्दवाच्येन चरतो रममाणस्य ते तवेति कर्मणि

आप में स्वाभाविक हैं, कहीं से माँग जाँच कर नहीं लाने पड़ते, अतएव वे कभी भी आपसे पृथक् नहीं हो पाते। प्रभो! आप स्वतःसिद्ध एकरस ऐश्वर्यवान् हैं। हमारी दूसरी श्रुतियाँ भी हमारे कथन का समर्थन करती हैं—कि ज्ञान बल क्रिया आदि शक्ति स्वाभाविक हैं। भगवान् में सभी ऐश्वर्य स्वाभाविक हैं इस कथन का समर्थक एक यह भी हेतु है कि चेतन अचेतन आदि समस्त पदार्थों में आप ही शक्ति भरते हैं। जिसके पास अपार अटूट अनन्त ऐश्वर्य सम्पत्ति हो वही उसमें से किसी को कुछ दे सकता है। यहाँ तक के कथन से कारणरूप ब्रह्म के स्वरूप का निरूपण किया गया, अब उसी के तीन प्रकार के कार्यरूप ब्रह्म का निरूपण करती हुई श्रुतियाँ "भोक्ता भोग्यं प्रेरितारं च०" इस श्वेताश्वर उपनिषद् की श्रुति का अर्थ द्योतन करने के लिये कहती हैं—"क्वचिदजया" अर्थात् जड़ (अचेतन) रूप, अपरा कहलानेवाली शक्ति और आत्मा जीवरूप पराशक्ति कहलानेवाली शक्ति इन दोनों शक्तियों से रमण करनेवाले आपका निगम (श्रुति समूह वेद) प्रतिपादन (वर्णन) करता है। यहाँ 'ते' शब्द में षष्ठी विभक्ति कर्म (द्वितीया विभक्ति) का बोधक है। अर्थात् कारणावस्थ और कार्यावस्थ दोनों प्रकार (भिन्न और अभिन्न

षष्ठी त्वां निगमोऽनुचरेत् उभयावस्थं[२] त्वां भिन्नाभिन्नत्वेन प्रतिपादयेदित्यर्थः। सदेव सौम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयं, तदैक्षत बहु स्यां प्रजायेयेत्यादिश्रुतयः ॥१५॥

बृहदुपलब्धमेतदवयन्त्यवशेषतया,
यतउदयास्तमयौ विकृतेर्मृदिवाविकृतात्।
अत ऋषयो दधुस्त्वयि मनोवचनाचरितं,
कथमयथा भवन्ति भुविदत्तपदानि नृणाम् ॥१६॥

अन्वय—एतत् उपलब्धं बृहत् अवशेषतया अवयन्ति यतः अविकृतात् विकृतेः उदयाऽस्तमयौ (भवतः) मृदिव अत ऋषयः त्वयि मनोवचनाचरितं दधुः अतः नृणां भुविदत्तपदानि अयथा कथं भवन्ति।

एवमनुचरेन्निगम इत्यनेन "तत्तु समन्वयादिति" सूत्रार्थ उक्तस्तत्रानुपपत्तिशंकायां समाधत्ते उत्तरश्लोकेन। ननु "वायुर्वै

रूप) से बोध कराती हैं। हमारे कथन के समर्थन में "सदेव सौम्येदमग्र आसीत्०" छां० और तदैक्षत बहुस्यां० ये दोनों श्रुतियाँ पर्याप्त हैं। इनका संक्षिप्त तात्पर्य :—यह जड़ चेतनात्मक जगत् पहले प्रलयकाल में भी सूक्ष्म रूप से था, फिर प्रभु ने बिचार किया अब मैं अनन्त रूपों में विस्तृत हो जाऊँ। इससे कारणरूप और कार्यरूप ब्रह्म के ये दोनोंरूप सिद्ध हो जाते हैं और दोनों का भिन्नाभिन्न (भेदाभेद या द्वैताद्वैत) सम्बन्ध भी नित्य है ॥१५॥

पूर्व श्लोक में जो "श्रुतिसमूह इस प्रकार श्रीसर्वेश्वर का प्रतिपादन करता है" यह कथन है, इससे वेदान्तसूत्रों की चतुस्सूची के अन्तिम "तत्तुसमन्वयात्" ब्र० सू० १।१।४ इस समन्वयाधिकरण

२—कारणकार्यावस्थम्।

क्षेपिष्ठा देवता (शीघ्रफलदाता) आकाशो नामरूपयोर्निर्वहिता, हिरण्यगर्भः समवर्तताग्रे, शिव एव केवल" इत्यादिना वेदस्य विश्वतोमुखत्वं प्रसिद्धं, कथं मदेकपरत्वमिति चेन्न ।। तत्तच्छब्दै-र्योगवृत्त्या तदन्तर्यामितया वा त्वमेव प्रतिपाद्यते इत्याहुः । बृहदुपेति । एतदुपलब्धं वाक्यैः रूढवृत्त्याऽन्यत्रान्यपरत्वेन प्रसिद्धं वाय्वाकाशब्रह्मरुद्रेन्द्रादिसर्वं शब्दार्थजातं ब्रहद् ब्रह्म त्वामेव श्रुतयोऽवयंति निश्चिन्वन्ति । कुतः अवशेषतया अवगतः शेषो-यस्मात्तस्यभावस्तत्ता तया पूर्णतया निरतिशयबृहत्त्वेनेतियावत् । 'अथ कस्मादुच्यते परं ब्रह्म, बृंहति बृंहयति चेति श्रुतेः स्वरूपगुण-

---

का तात्पर्यार्थ कह दिया गया है अर्थात् समूचा वेद ब्रह्म का ही वर्णन करता है । इस कथन से किसी को कुछ अनुपपत्ति (सन्देह) हो उसका निवारण अब "बृहद् इत्यादि श्रुति" द्वारा किया जाता है । यहाँ पूर्व पक्षी का कहना है कि वेद में तो बहुत तेज गतिवाले अर्थात् शीघ्र ही फल देनेवाले वायु तथा नाम रूप के निर्वाहक आकाश और हिरण्यगर्भ शिव आदि देवों का भी वर्णन है, फिर यह कैसे माना जाय कि वेद केवल ब्रह्म का ही प्रतिपादन करता है ? श्रुतियों से भगवान भी विनोद में ऐसा पूछ सकते हैं कि जब श्रुतिसमूह समस्त विश्व का वर्णन करने से "विश्वतोमुख" है तब हे श्रुतियो ! आपका यह कहना ठीक नहीं कि "निगम (श्रुति-समूह) केवल आपका ही प्रतिपादन करता है । इस शंका का यहाँ (टीकाकार) ऐसा समाधान करते हैं :—वायु आदिक शब्दों का भी यौगिक वृत्ति से एवं उनके अन्तर्यामी होने से तात्पर्यरूप अर्थ आप ही हैं । अतः हम सब श्रुतियों द्वारा आपका ही प्रतिपादन किया जा रहा है । यह ठीक है कि रूढिवृत्ति से वायु आकाश ब्रह्म रुद्र इन्द्र आदि शब्द अन्यों (वायु आदि) का भी बोध कराते हैं ऐसी प्रसिद्धि है परन्तु हम सब श्रुतियाँ तो उन वायु आदि

शक्तिभिर्निरतिशयबृहत्तयेत्यर्थः । तदपेक्षया वस्तुजातस्य साति-शयत्वेनापूर्णत्वात्, तथा च श्रुतयः "यो वायौ तिष्ठन् य आकाशे तिष्ठन्, एको नारायण आसीन्न ब्रह्मानेशानः, तमेव भान्तमनुभाति सर्वं तस्य भासा सर्वमिदं विभाति । अन्तर्बहिश्च तत्सर्वं व्याप्य नारायणः स्थितः । स ब्रह्मा स शिवः सेन्द्रः सोऽक्षरः स्वराट्० । यमिन्द्रमाहुर्वरुणं यमाहुः" इत्यादयः समन्वयाध्याये स्पष्ट-मेवव्याख्यातम् । निरुक्तमुखेन प्रतिपाद्य लक्षणमुखेन ब्रढ़यति :—

शब्दों द्वारा आपको ही जानती मानती हैं । यदि आप पूछें कि ऐसा क्यों मानती हो ? तो हे प्रभो ! सुनिये :—हम उन्हें अवशेष=अपूर्ण सातिशय मानती हैं । आप हैं पूर्ण निरतिशय बृहत्, उनमें सातिशयता है, एक से एक बढ़कर है, किन्तु आप से बढ़कर कोई नहीं, कुछ नहीं । आप स्वयं तो बृहत् हैं ही चाहें तो अन्य को भी बृहत् बना दें । इसी तात्पर्य को "बृंहति-बृंहयति" यह श्रुति बतलाती है ।

इस प्रकार इस श्रुति के "अवशेषतया" शब्द का तात्पर्य—"आपका स्वरूप गुण और शक्ति ये सब निरतिशय बृहत् पूर्ण हैं, अन्य सब सातिशय होने के कारण ही अपूर्ण हैं । इस आशय को बतलानेवाली श्रुतियाँ कहती हैं :—जो वायु एवं आकाश में अन्तर्यामीरूप से रहता है वही एक नारायण प्रलयकाल में कारणरूप में था, उस समय ब्रह्मा शिव आदि सब अव्यक्त थे । ये सब उन्हीं के अनुगत हैं । उसी के प्रकाश से यह सब कुछ (दृश्यमान) दिखाई दे रहा है । वह इस दृष्ट श्रुत जगत् के बाहिर-भीतर सर्वत्र व्याप्त है, वही ब्रह्म शिव इन्द्र अक्षर स्वराट् है । उसे इन्द्र भी कहते हैं, वरुण भी कहते हैं, क्योंकि वह सर्वरूप है । उपर्युक्त अर्थवाली सभी श्रुतियों का वेदान्त-सूत्र के प्रथम (समन्वय) अध्याय में स्पष्ट रूप से समन्वय किया गया है ।

यतो विक्रुतेरुदयास्तमयौ यतः कारणाद्विकृतेः कार्यस्याकाशादेः ब्रह्मरुद्रेन्द्रादेश्च जन्मप्रलयौ भवतः। उपलक्षणं चैतत् जन्मस्थिति-भंगा भवन्तीत्यर्थः। "यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते" इत्यादि श्रुतेः। "नारायणाद्ब्रह्मा जायते नारायणाद्रुद्र" इत्यादेश्च "यतः सर्वाणि भूतानि, प्रभवन्ति युगागमे। यस्मिंश्च प्रलयं यान्ति पुनरेवयुगक्षये ॥ अहं सर्वस्य प्रभवो मत्तः सर्वं प्रवर्त्तते, एषः प्रकृतिरव्यक्तः, कर्ता चैव सनातनः। परं च सर्वभूतेभ्यस्तस्माद्वृद्धतमोऽच्युतः। बुद्धिर्मनो महद्वायुस्तेजोंभः खं मही च या। चतुर्विधं च यद्भूतं सर्वं कृष्णेप्रतिष्ठितं। चतुर्विधानां (जरायुजस्वेदजांण्डजोद्भिज्जानाम्) भूतानां त्रिषु लोकेषु साधवः। प्रभवश्चैव सर्वेषां निधनं च युधिष्ठिर "इत्यादिस्मृतेश्च ॥" "जन्माद्यस्य यत" इत्यादिन्यायाच्च। ननु कथं ब्रह्मणः सृष्टयादेरभ्युपगमः, न

इस श्लोक में यहाँ तक दिखाये हुए पदों से निरुक्तरूप से ब्रह्म का प्रतिपादन हुआ है, अब "यतो विकृतेः, उदयाऽस्तमयौ" इन पदों से ब्रह्म का लक्षण बतलाया जा रहा है अर्थात् उसी कारण रूप ब्रह्म से ब्रह्मा रुद्र इन्द्रादि का उदय और अस्त होता है, उदय और अस्त यह एक उपलक्षण समझना चहिये, उदय अस्त का तात्पर्य उसी ब्रह्म से समस्त विश्व की उत्पत्ति स्थिति और प्रलय होना है, जिसका यतो वा इमानि०, नारायणाद्ब्रह्मा० इत्यादि श्रुतियाँ और यतः सर्वाणि० इत्यादि महाभारत के वचन तथा "अहं सर्वस्यप्रभवः०" गीता० एवं एषप्रकृति० सर्व कृष्णे-प्रतिष्ठितम्, निधनं च युधिष्ठिर ! यहाँ तक टीकोद्धृत वाक्य इसका समर्थन करते हैं। इसी आशय का समर्थन वेदव्यासजी के स्वरचित ब्रह्मसूत्रों में "जन्माद्यस्य यतः०" ब्र० १।१।२ में स्पष्ट किया गया है।

यहाँ प्रश्न होता है कि ब्रह्म से सृष्टि होना यदि आरम्भ-

तावदारम्भवादेन, न्यायमतप्रवेशात् ॥ नापि संघातादिना, बौद्ध-सिद्धान्तापत्तेः। नापि परिणामः, कृत्स्ननाशनिरवयवश्रुतिव्या-कोपप्रसंगात्। परिशेषाद्विवर्तएवाकामेनापि त्वयाङ्गीकरणीय-स्तथा चास्माकमिष्टापत्तिरित्याशंकायां "स्वयमात्मानमकुरुत, आत्मकृतेः परिणामादि"तिशास्त्रोक्त एवास्माकं वैदिकानां सिद्धान्तः ॥ ननु तथाप्युक्तदोषस्तदवस्थ एवेति चेत्तत्राह:— अविकृतात् विकारशून्यात्, अप्रच्युतस्वरूपात्। परिणामे कथं

वाद की दृष्टि से मानें तो नैय्यायिकों के ही एक मत का पक्ष हो जायेगा और संघात की प्रक्रिया से सृष्टि का आरम्भ मानें तो बौद्धों का मत हो जायेगा। यदि परिणामवाद मानेंगे तो ब्रह्म का एक देशीय परिणाम मानें तो जो ब्रह्म को निरवयव माना गया है वह ध्वस्त हो जायेगा और एकदेशीय परिणाम न मानने पर पूरा का पूरा ब्रह्म संसार ही बन जायेगा। अब अवशिष्ट रहा विवर्तवाद, न चाहते हुए भी आपको वही अंगीकार करना पड़ेगा, विवर्तवादियों को तो यह सिद्ध करना ही है।

उपर्युक्त शङ्का का समाधान :—हम तो वैदिक हैं, श्रुतियों के आधार पर जैसा निर्णय हो वही हमें मान्य है, श्रुति स्पष्ट कहती है कि परमेश्वर ने स्वयं अपने को किया। इस आशय के वेदमन्त्रों का ही समर्थन वेदव्यासजी ने "आत्मकृते परिणामात्" (ब्र० १।४।२६) इस सूत्र द्वारा किया है।

आपने जो समाधान किया उससे भी वह दोष नहीं हट सका, क्योंकि परिणाम तो विकार ही है, अतः परिणामवाद अंगीकार करनेवालों का ब्रह्म विकृत बन जायेगा। इसी शङ्का की निवृत्ति इस श्लोक का "अविकृतात्" यह पद कर रहा है। अर्थात् ब्रह्म अविकृत=(विकाररहित) अप्रच्युत स्वरूप है। यदि कोई यह कहे कि जिसका परिणाम (जैसे दूध दही के रूप में

निर्विकारतेति चेच्छृणु, परिणामोऽत्र शक्तिविक्षेपः। शक्तिविक्षेपेणैव तद्गतं विश्वं विस्तारयति। तदुपसंहारेण च संहारयति, ऊर्णनाभेरिव तत् संतानोपसंहारः॥ तथा च श्रुतिः॥ "यथोर्णनाभिः सृजते गृह्णते च, यथा सतः पुरुषात्केशलोमानि। यथा पृथिव्या

परिणत हो जाता है) होता है तो वह निर्विकार नहीं माना जा सकता, इसी प्रकार यदि ब्रह्म सृष्टि रूप में परिणत हो जाता हो तो उसमें निर्विकारता ही नहीं रहेगी। इस शंका का समाधान करते हैं कि ब्रह्म के स्वरूप में परिणाम नहीं होता अपितु ब्रह्म की अपराशक्ति प्रकृति में क्षोभरूप परिणाम होता है।[1] ब्रह्म प्रकृति स्थित विश्व का विस्तार करता है फिर उपसंहार भी कर देता है। यह विश्व की उत्पत्ति और उपसंहार विकृत हुए बिना ही जैसे ऊर्णनाभि (मकड़ी) करती है उसी प्रकार परमात्मा करता है। इसका समर्थन "यथोर्णनाभि०, यथासतः पुरुषात्

१—अनन्त आकाश में छाये हुए अनन्त परमाणुओं में ईश्वर की इच्छा से क्रिया उत्पन्न होती है, तब एक-एक परमाणु चलकर दूसरे परमाणु से मिलता है, उन दोनों का वह द्व्यणुक बन जाता है। ऐसे तीन द्व्यणुकों के मिल जाने पर एकत्रसरेणु बन जाता है। इसी प्रकार परमाणुओं के मिलते-मिलते पूरा ब्रह्माण्ड बन जाता है। इसी मान्यता का नाम आरम्भवाद है, इसे गोतम और कणाद (नेय्यायिक) मानते हैं।

भूतभौतिक चित्तचैतिक पदार्थों के मिलने से सृष्टि होना बौद्ध मानते हैं, यह संघातवाद कहलाता है। दूध का दही के रूप में परिणत हो जानेवाला परिणामवाद है, और चराचरात्मक जगत् को मिथ्या एवं भ्रमरूप मानना ही विवर्तवाद कहलाता है जो मुख्यतया केवलाद्वैतवादी श्रीशङ्कराचार्य का माना जाता है।

ओषधयः संभवन्ति तथाऽक्षरात् संभवतीह विश्वं, सन्मूलाः सौम्येमाः सर्वाः प्रजाः सदायतनाः सत्प्रतिष्ठा" इति वाक्यानि विवर्त्तवादस्य निर्मूलतां बोधयंतीति भावः। न च 'वाचारम्भणं विकारो नामधेयमि"त्यादि श्रुतिमूलत्वाद्विवर्तवादस्य प्रामाणिकोऽयं न निषेद्धुं' शक्य इति वाच्यम्, तत्रैव विकारशब्दप्रयोगेण तस्य निरस्तत्वात्। नहि विवर्त्तकार्यस्य विकारत्वं भवताऽभ्युपगम्यतेऽपि तु भ्रांतित्वं, तथाभूतप्रयोगस्य कुत्राप्यदर्शनान्निर्मूल-

---

लोमानि०, यथापृथिव्या०, सन्मूलाः सौम्य०" इत्यादि श्रुतियाँ करती हैं। अर्थात् जैसे पुरुषों (प्राणियों) के शरीरों से केश रोम आदि एवं पृथ्वी से औषधि (अन्न) आदि उत्पन्न और विनष्ट होते रहते हैं किन्तु शरीर पृथ्वी आदि बने ही रहते हैं, उसी प्रकार अक्षर ब्रह्म से यह विश्व उत्पन्न (अभिव्यक्त) और विनष्ट (तिरोहित) होता रहता है।

उपर्युक्त सभी श्रुतियाँ विवर्तवाद को जड़ से उखाड़ देती हैं। अगर विवर्तवादी कहे कि "वाचारम्भणं विकारो०" यह श्रुति विवर्तवाद का समर्थन करती है कि विकार (दृश्यमान घट पटादि) तो नाम मात्र हैं, इनका कारण (मृत्तिका आदि) ही सत्य है। इससे जगत का मिथ्यात्व सिद्ध हुआ। यही तो विवर्तवाद है, जो श्रुतिमूलक सिद्ध होता है। यह निषिद्ध कैसे किया जा सकता है? इस जिज्ञासा का समाधान सिद्धान्ती करते हैं:—विवर्तवादी जिस श्रुति को अपने पक्ष के समर्थन में आधार मानता है, उसमें विकार शब्द का प्रयोग है, वहाँ न विवर्त की ही चर्चा है न मिथ्यात्व की ही। विवर्तवादी विवर्त को विकार नहीं कहता वह तो उसे भ्रान्ति (भ्रम) कहता है, उन (विवर्त और मिथ्यात्व) दोनों शब्दों का कहीं उल्लेख नहीं। अतः विवर्तवाद निर्मूल हो जाता है।

त्वमेव सिद्धचति बिवर्त्तस्य ।। अस्मत्पक्षे तु "प्रकृतिं पुरुषं चापि प्रविश्यात्मेच्छया हरिः । क्षोभयामास संप्राप्ते सर्गकाले व्यया-व्ययाविति विक्षेपपर्यायांतरं क्षोभशब्दं कण्ठरवेणोच्चारितवान् भगवान् पराशरः ।। तत्र दृष्टान्तः :—मृदिव घटादिवदित्यर्थः । अतएव ऋषयो मंत्राभिमानिनो देवास्त्वयि मनोबचनाचरितं दधुः, ध्यानपूर्वकं तव कीर्तनं चक्रुः, ध्येयत्वेन च ज्ञेयत्वेन च प्रतिपादयामासुः ।। "एको देव" इत्यादिमंत्राश्च । युक्तमेवैतत् यतो यत्र कुत्रापि वृक्षकुडच्प्रेंरवणादिषु (हिंडोला भाषायां)

हमारे (सिद्धान्ती के) पक्ष में तो "प्रकृतिं पुरुषं चापि०" यह पाराशरजी का वचन प्रमाण है जिसमें विक्षेप शब्द का पर्यायवाची क्षोभ शब्द का स्पष्ट उल्लेख है। इस श्लोक का भाव यह है कि—जब सृष्टि रचना का समय आता है, तब प्रकृति और पुरुष में सम्प्रविष्ट भगवान् प्रकृति में क्षोभ (विक्षेप) कर देते हैं अर्थात् उसे व्यक्तरूप में (परिणत) कर देते हैं।

यहाँ "मृदिव" यह दृष्टान्त दिया जाता है। अर्थात् जिस प्रकार कुलाल मृत्पिण्ड को कपाल, घटरूपों में परिणत कर देता है, उसी प्रकार प्रभु सत् (सूक्ष्म-अव्यक्त) जडाजड जगत् को अभिव्यक्त कर देते हैं। इसी कारण से ऋषिजन-मन्त्राऽभिमानी-देव "त्वयि" आप में मन एवं वचन द्वारा आचरितं (मन और वाणी से किया जा सकनेवाला आचरण) ध्यान कीर्तन आदि। दधुःधारण किया है। भाव यह है कि ध्येय एवं गेय के रूप से सभी वेद मन्त्र आपका ही प्रतिपादन करते हैं। इस कथन का "एकोदेवः सर्व भूतेषु गूढः०" इत्यादि मन्त्रों में स्पष्ट उल्लेख मिलता है।

यहाँ एक यह लौकिक उदाहरण भी दे दिया जाता है—जैसे कोई व्यक्ति किसी वृक्ष के ऊपर या मकान की छत पर

जनैर्दत्तानि पदानि पृथिव्यामदत्तानि कथं भवन्ति, अतः आकाशादीनपि कयाचिद्विवक्षया प्रतिपादयंतो वेदास्तद्द्वारा मुख्यविषयं सर्वांतर्यामिणं सर्वाधिष्ठानं सर्वधीप्रवर्त्तकं त्वामेव प्रतिपादयंति, सर्वेषा तवैव कार्यत्वात् । नियम्यत्वादाश्रितत्वात् पारतंत्र्याच्च । अनेन "तत्तु समन्वयादि"त्यधिकरणं व्याख्यातम् ।।१६।।

इति तव सूरयस्त्र्यधिपतेऽखिललोकमल
क्षपणकथामृताब्धिमवगाह्य तपांसि जहुः ।
किमुत पुनः स्वधामविधुताशयकालगुणाः
परम भजन्ति ते पदमजस्त्रसुखानुभवम् ।।१७।।

अथवा किसी झूले पर एकान्त में बैठा हुआ है। वह इन सब स्थानों पर कैसे पहुँचा ? इस पृष्टव्य का उत्तर यही तो होगा कि—यह व्यक्ति पहले अवश्य पृथ्वी पर चला है, सीढ़ियों पर पैर रक्खे हैं। कदाचित् उसके वे पैरों के चिह्न पृथ्वी पर नहीं दीखते हैं तो मत दीखो, किन्तु निःसन्देह यही माना जायेगा कि उसने पृथ्वी पर पैर अवश्य रक्खे हैं। ठीक उसी प्रकार आकाश आदि का जो श्रुतियों ने प्रतिपादन किया है, उसमें चाहे आपका स्पष्ट नामोल्लेख न भी हुआ है तब भी यह वर्णन आप ही का मानना चाहिये, आकाश आदि शब्दों से मुख्य बिवक्षित अर्थ आप ही हैं। आप इनके अन्तर्यामी सर्वाधिष्ठान, सर्वधीप्रवर्तक और नियामक, आश्रय हैं। अभिन्न निमित्तोपादान कारण भी आप ही हैं।

इस द्वितीय श्रुति (१६वें मन्त्र) से वेदव्यासजी कृत ब्रह्म-सूत्रों की चतुस्सूत्री के चतुर्थ सूत्र के "समन्वयाधिकरण" की भी व्याख्या समझ लेना चाहिये ।।१६।।

अन्वय—त्र्यधिपते ! इति सूरयः तव अखिल लोकमलक्षपण-कथाऽमृताब्धि अवगाह्य तपांसि जहुः। परम ! ये पुनः स्वधामविधुताशयकालगुणाः अजस्रसुखानुभवं पदं भजन्ते किमुत।

"त्यजन्ति तापं य उ ते भवत्कथा, इतिस्म मुक्ताः किमुत स्वरूपगाः। परावरेशेष पदं भजंतः, परं परानंदमनारजंत"। इति इंद्रद्युम्नश्रुत्यर्थमाह इतीति स्पष्टोऽन्वय, कैमुत्यन्यायश्च यतः सर्वागमविषयस्त्वमसीत्यतः सूरयो विवेकिनः हे त्रिगुणनियन्तः अखिललोकानां जनानां मलनाशिकास्तव कथास्तदेवामृताब्धिस्तमवगाह्य तपांसि अध्यात्मादीनि जहुः। स्वधामविधुताशयकालगुणाः स्वस्य तव धामाधिष्ठानं मंदिरं प्रत्यगात्मस्वरूपं तद्विचारेण विधुताः कालगुणा जरादय, आशयगुणा रागादयो

"त्यजन्तितापं०" इत्यादि इन्द्रद्युम्न श्रुति का ही भाव श्रुतिस्तुति की इति तव० इत्यादि इस तीसरी श्रुति द्वारा स्पष्ट किया जाता है :—यहाँ अन्वय क्रम और कैमुत्य न्याय दोनों ही स्पष्ट हैं। तात्पर्य यह है कि—सम्पूर्ण आगमों के प्रतिपाद्य विषय आप (परमेश्वर) ही हैं, अतः विवेकीजन समस्त विश्व के प्राणियों के पाप दोष आदि का निराकरण कर देनेवाली आपकी कथारूपी अमृत के सिन्धु में अवगाहन (मज्जन) करके अध्यातम अधिभूत अधिदैव सभी ताप सन्तापों से छुटकारा पा जाते हैं। अथवा यों भी कह सकते हैं कि केवल आपके कथामृत पान से ही यथेष्ट लाभ लेकर कृतकृत्य हो जाते हैं, अतः अन्याऽन्य विविध प्रकार से कष्टसाध्य तपों के करने की उन्हें आवश्यकता नहीं रहती।

जिन सज्जनों ने अपने अधिष्ठानस्वरूप (प्रत्यक् आतमा एवं परमात्मा) के विचार द्वारा काल के जरा आदि गुण और आशय (अन्तःकरण) के राग ईर्षा द्वेष आदि गुणों को धो डाला

यस्ते। जरादयो रागादयश्च प्रत्यगात्मनो भगवदीयांशस्य सत्यज्ञानात्मनो ममैते न भवन्ति। प्रकृतिकार्यत्वादिति परामर्शपरायणा आविष्कृतसत्य—ज्ञानापहतपाप्मत्वादिगुणा इति भावतः॥ यद्वा स्वस्य जीवात्मनो धामाधिष्ठानं भगवत्स्वरूपं तद्ध्यानेन विधुता इत्यादिपूर्ववत्। हे परम क्षराक्षराभ्यामुत्कृष्टपदं प्राप्यम् अजस्रसुखः सदानन्दः श्रीकृष्णः स एवानुभवस्तम्

है, अर्थात् जिन ने यह समझकर कि ये सब हमारे नहीं जड़ प्रकृति के कार्य हैं। इस प्रकार के निश्चित विचारवालों के हृदय में सत्य, ज्ञान अपहत पापमत्व आदि की भावना दृढ़ हो जाती है, जीवात्मा के ये स्वरूपभूत गुण हैं, वास्तविक हैं।

"स्वधामविधुत०" इस वाक्य का दूसरा अर्थ यह भी हो सकता है :—स्व=जीवात्मा, धाम=अधिष्ठान (भगवत्स्वरूप उस) का ध्यान करने से अन्तःकरण, काल आदि के गुण निरस्त हो जाते हैं। हे परम[1] !=क्षर और अक्षर से भी उत्कृष्ट, सर्वोच्च, निरन्तर (सदासर्वदा) सुखस्वरूप प्राप्त करनेयोग्य आपको जो भजते हैं उनका तो कहना ही क्या। भगवान् श्रीमुख से

१—एक एक अक्षर (वर्ण) भी ब्रह्मरूप माना जाता है जैसा कि कोषकारों ने "अकारो वासुदेवः स्यात्०" आकार को वासुदेवरूप बतलाया है। अक्षरों (वर्णों) से विभिन्न-विभिन्न अर्थ स्फुरित होते हैं। कई एक टीकाकारों ने परम शब्द के कई अर्थ व्यक्त किये हैं परा=उत्कृष्टा, मा=लक्ष्मी (श्रीराधा) यस्य सः। इस व्युत्पत्ति द्वारा परम शब्द का अर्थ श्रीराधासर्वेश्वर किया है। (भक्तरंजनी टीका, पं० राममूर्तिजी)। कुछ विद्वानों ने मा=न, परो=उत्कृष्टः यस्मात् स, (परमः) ऐसा विग्रह करके तत्व-प्रकाशिकाकार के भाव को ही व्यक्त किया है।

तथा भगवद्वाक्यं "मामुपेत्य तु कौन्तेय पुनर्जन्म न विद्यते" इति विदुषामनुभवज्ञापिका "श्रुतयश्च यथा पुष्करपलाशे आपो न श्लिष्यन्ते एवमेवं विदि पापं कर्म न श्लिष्यते । न कर्मणा बध्यते पापकेन तत्सुकृतदुष्कृते विधुनुते । एवं ह वा न तपति किमहं साधुना करवमि"त्यादि ॥१७॥

दृतय इव श्वसन्त्यसुभृतो यदि तेऽनुविधा
महदहमादयोऽण्डमसृजन् यदनुग्रहतः ।
पुरुषविधोऽन्वयोऽत्र चरमोऽन्नमयादिषु यः
सदसतः परं त्वमथ यदेष्ववशेषमृतम् ॥१८॥

अन्वय—यदि ते अनुविधाः (तर्हि) असुभृतः (सन्ति अन्यथा) दृतय इव श्वसन्ति महदहमादयः यदनुग्रहतः अण्डं असृजन् अथ यः अन्नमयादिषु पुरुषविधः अन्वयः अत्र चरमः सदसतः परं अवशेषं ऋतं यत् (तदेव त्वं) ।

एतदेवान्वयव्यतिरेकेण द्रढयति दृतयइति यदितेऽनुविधास्तदगुणस्तवनादिना तवानुयायिनः तर्हि असुभृतः प्राणवन्त

भी कहते हैं कि मुझको प्राप्त हो जाने पर फिर जन्म-मरण आदि संसृति नहीं होती। (गी० ८।१५) भगवद्विज्ञाताओं के अनुभव का ज्ञापन करनेवाली श्रुतियाँ कहती हैं कि—जिस प्रकार कमल का पत्र जल से श्लिष्ट नहीं रहता उसी प्रकार भगवत्तत्व के ज्ञाता को पाप कर्म लिप्त नहीं कर सकते अर्थात् सुकृत दुष्कृत (पुण्य पाप) दोनों ही प्रकार के कर्मों से वह लिप्त नहीं होता। अतएव वह तप आदि कर्म करना भी आवश्यक नहीं समझता ॥१७॥

भगवद् भक्तों का ही जीवन सार्थक है, इसी (पूर्व श्रुति-सम्मत) आशय की पुष्टि अन्वय व्यतिरेक न्याय से इस चतुर्थ

इत्यन्वयोक्तिः। व्यतिरेकमाह। अन्यथा दृतय इव श्वसन्ति अग्निज्वालसाधनभूतचर्मेव प्राणहीना इव श्वसन्ति यथा तच्छ्वसनमपि परतापायैव तद्वत्तेषां जीवनमपीति, जीवन्मृता इत्यर्थः तथा च पैंगी श्रुतिः "अनिशमनुश्वसन्त्यसुखोदारितास्तवरिपवो दृतिवत्तमसि प्रविष्टाः। तवगुण प्रथनाः परिहाय तमः, प्रयांति पदमजस्रमनन्तसुखमिति। भारते सभापर्वणिनारदवचनं "कृष्णं कमलपत्राक्षं नार्चयिष्यन्ति ये नराः। जीवन्मृ-

---

स्तुति द्वारा की जाती है—हे प्रभो! देहधारियों में जो आपके गुण गणों का वर्णन एवं आपका स्तवन करते हैं उन्हीं को प्राणवान् समझना चाहिये। यह अन्वय प्रमाण है[1]। अब आगे व्यतिरेक[2] प्रमाण की दृष्टि से कहा जाता है, यदि भगवत् स्तवन स्मरण नहीं होता है तो वह जीवन जीवन नहीं कहा जा सकता, उसे तो आग को प्रज्वलित करनेवाली दृति (भस्त्रा के समान) हवा देनेवाली धौंकनी समझना चाहिये। जैसे धौंकनी दूसरे को ताप सन्ताप देने के लिये फूँकी जाती है उसी प्रकार भगवद्विमुख प्राणियों का जीवन भी दूसरे प्राणियों को दुःख पहुँचाने के लिये ही समझा जाता है।

इसी तात्पर्य का "अनिशमनुश्वसन्त्य०" यह पैंगी श्रुति समर्थन करती है।

महाभारत सभापर्व में श्रीनारदजी के ये वचन हैं कि जो प्राणी कमल-नयन भगवान् श्रीकृष्ण की अर्चा पूजा नहीं करते

१—तत् सत्वेतत्सत्वम्, अर्थात् कारण हो तो कार्य हो। इसे अन्वय व्याप्ति कहते हैं।

२—तदभावे तदभावः, अर्थात् कारण न हो तो कार्य भी नहीं हो सकता, इसे व्यतिरेक व्याप्ति कह सकते हैं।

तास्तु ते ज्ञेया, न संभाष्याः कदाचनेति"। अनेन तेषां संभाषणादिकर्ता तद्गर्गतिव्रजतीत्यर्थः सूचितः। चेतनाचेतनवस्तुजातं तच्छक्त्यैव कार्यकरणे सामर्थ्यवदित्याह :—महदहमाद्यस्तदभिमानिन्योदेवताः यदनुग्रहतः यस्य तव तेषां तत्त्वानां तृतीयस्कंधोक्तेन स्तोत्रेण प्रसन्नस्यानुग्रहोन्मुखस्यानुग्रहतः शक्तिप्रदानेन अंड मसृजन्। उपलक्षणं चैतत् स्वाभीष्टं प्राप्नुवन्नित्यर्थः। शक्तिप्रदातृत्वेनोक्त्वा सर्वोत्कृष्टत्वेन स्तौति योऽन्नमयादिषु अन्वयो भूत्वा चरम आनंदमयः स त्वमसि। मयट्प्रत्ययकथनेन प्रतीतं विकारार्थं वारयति ॥ सदसतः परं स्थूल सूक्ष्मात्प्राणमयादेः परं अत्यंतोत्कृष्टं तेषामवधिभूतम् अतएव ऋतं सत्यम्

उन्हें जीते हुए मुर्दा ही समझना चाहिये। उनसे कभी सम्भाषण भी नहीं करना चाहिये। क्योंकि जो ऐसे व्यक्तियों से सम्भाषण करेगा तो उसकी भी उसी प्रकार की प्रवृत्ति होगी। चेतन अचेतन सभी भगवत्प्रदत्त शक्ति से ही अपने-अपने कर्तव्य कर्म करते हैं यह तात्पर्य "महदहमादय" इन पदों से व्यक्त किया गया है। इसका तात्पर्य यही है कि महत् तत्व अहंकार आदि की अभिमानिनी देवताओं ने आपके अनुग्रह से ही ब्रह्माण्ड की रचना की है। यह श्रीमद्भागवत तृतीय स्कन्ध के पाँचवें अध्याय में उन देवताओं के द्वारा की हुई स्तुतियों से अवगत होता है। प्रभुप्रदत्त शक्ति से देवता सृष्टि करते हैं इसे उपलक्षण समझना चाहिये अर्थात् समस्त देवताओं की सभी अभीष्ट कामनायें प्रभु ही पूर्ण करते हैं। यहाँ तक यह कहा गया कि सबको भगवान् से ही शक्ति मिलती है, अब "योऽन्नमयो०" इत्यादि पदों से प्रभु की सर्वोत्कृष्टता का श्रुति द्वारा वर्णन किया जाता है। अर्थात् अन्नमय, मनोमय, प्राणमय, विज्ञानमय आदि कोषों में जो अनुस्यूत रहते हुए अन्तिम आनन्दमय है, वह आप ही हैं। यहाँ

अप्रच्युतस्वरूपम्। तथा च श्रुत्याभ्यासः "आनंदाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते। आनन्देन जातानि जीवन्ति। आनंदं प्रयन्त्यभिविशंती" इत्यादि अनेन "आनन्दमयोऽभ्यासादि" त्यधिकरणं व्याख्यातम् ॥१८॥

उदरमुपासते य ऋषिवर्त्मसु कूर्प्पदृशः
परिसर पद्धतिं हृदयमारुणयो दहरं।
तत उदगादनन्त तव धाम शिरः परमं
पुनरिह यत्समेत्य न पतंति कृतान्तमुखे ॥१९॥

अन्वय—ऋषिवर्त्मसु ये कूर्प्पदृशः उदरं उपासते आरुणयः परिसर पद्धतिं हृदयं दहरं (उपासते) अनन्त! ततः परमं तव धाम शिरः उद्गात् यत् समेत्य पुनः इह कृतान्तमुखे न पतन्ति।

तत्साधनमाह ॥ उदरमित्यादि ॥ ऋषिवर्त्मसु ऋष्यु-

मयट् प्रत्यय को कोई विकारार्थ न समझे यह भाव "सदसतः परं" इन पदों से प्रगट किया गया है अर्थात् हे प्रभो! आप स्थूल सूक्ष्म प्राणमय आदि कोषों से अत्यन्त उत्कृष्ट हैं। क्योंकि उनकी अवधि आप (आनन्दमय) तक है, इसलिये आप ही ऋत (सत्य) हैं आपमें कभी किसी प्रकार की गिरावट नहीं आती आप अखण्ड सच्चिदानन्द स्वरूप एक रस हैं। उसी आनन्द-स्वरूप (आप) से समस्त भूत उत्पन्न होते हैं, आनन्द से ही सबका पालन होता है और अन्त में आनन्द में ही सब समा जाते हैं। इस श्रुति द्वारा "आनन्दमयोऽभ्यासात्" (ब्र० १।१।१२) इस आनन्दमयाधिकरण की व्याख्या की गई है ॥१८॥

भगवत्प्राप्ति का अब साधन बतलाया जाता है "उदरं" इत्यादि पदों से :—ऋषियों द्वारा की जानेवाली भगवत् उपासना

पासनसंप्रदायेषु ये कूर्पदृशः शर्कराक्षाः। "शर्करा क्षुद्रपाषाणे सूक्ष्मे च खंडिते गुडे" इतिकोशात् सूक्ष्मदृष्टयः। ते उदरं उद्गतः अरः परिच्छेदो यस्मात्तदुदरं अपरिछिन्नं ब्रह्म ह्यु पासते 'उदरं' ब्रह्मेति शर्कराक्षा" इति श्रुतेः ये चारुणयस्ते हृदयं हृद्यत इति हृदयं हृदवच्छिन्नं ब्रह्मोपासते 'हृदयं' ब्रह्मेत्यारुणय' इति श्रुतेः। कथं भूतं तद् दहराख्यं इत ऊर्द्धत्वेनो "पसर्पत् तच्छिरोऽश्रयत" इति शेषवाक्यार्थमाह हे अनन्त ! तव धाम ततः हृदयादेरुद्गात् उर्द्धवमुदसर्पत् ब्रह्मरन्ध्रप्राप्तमित्यर्थः ।। कथं

के मार्गों (सम्प्रदायों) में जो कूर्पदृष्टि[१]=सूक्ष्मदर्शी साधक हैं, (यहाँ कूर्प शब्द का तात्पर्य सूक्ष्म अर्थ में है, शर्करा—बालू के कण सूक्ष्म खण्डित गुण ये सब कोषकारों ने कूर्प-शर्करा के पर्याय माने हैं) वे उदर अर्थात् जो अर=परिच्छेद से ऊपर अपरिछिन्न ब्रह्म है उसकी उपासना करते हैं। "उदरं ब्रह्मेति शर्कराक्षा" ऐसी श्रुति ही इस तात्पर्य का द्योतन करती है और आरुणि[२] (अरुण ऋषि के) सम्प्रदाय के उपासक हैं वे हृदयं=हृदय में विराजमान दहर सूक्ष्म ब्रह्म की उपासना करते हैं। "हृदयं ब्रह्मेत्यारुणयः" यह श्रुति इस आशय का समर्थन करती है। हृदयावच्छिन्न को ही दहर माना है। इस (हृदयस्थ) से ऊपर

१—कूर्पदृशः कूर्प=सर्कराः, (सूक्ष्म रजःकण आदि टीकाकारों ने स्थूल दृष्टाः अर्थ किया है) जिसके आँख में पड़ जाते हैं तो उस प्राणी का कम दीखना स्वाभाविक हो जाता है।

२—आरुणयः सुबोधिनीकार श्रीवल्लभाचार्य ने आरुणयः शब्द की व्युत्पत्ति "अरुणस्य अपत्यं पुमान्" आरुणि ऐसी की है। एक कल्प में श्रीसुदर्शन चक्रराज का आरुणि=श्रीनिम्बार्क रूप में अवतार होना प्रख्यात है।

भूतं परिसरपद्धतिं परिसरन्ति पद्धतयः संप्रदाया यस्मात्तत्तथा सर्वसंप्रदायमूलम्। संप्रदायप्राप्यं फलम् तत्रहेतुः—यत्समेत्य कृतान्तमुखे संसारे न पततीति, न पुनरावर्तत इत्यर्थः। तयोर्द्ध्व-मायन्नमृतत्वमेति, न स पुनरावर्तत" इत्यादि श्रुतेः ।।१९।।

स्वकृतविचित्रयोनिषु विशन्निवहेतुतया
तरतमतश्चकास्स्यनलवत् स्वकृतानुकृतिः।
अथ वितथास्वमूष्ववितथं तव धाम समं
विरजधियोऽनुयंत्यभिविपण्यव एकरसम् ।।२०।।

अन्वय—स्वकृत-विचित्र योनिषु हेतुतया विशन् इव स्वकृतानुकृतिः (त्वं) अनलवत् चकासि, अथ अमूषु वितथासु तव धाम अवितथम् समं (अस्ति) विरजधियः अभिविपण्यव (त्वां) समं एकरसं अवयन्ति।

जो शिरोऽवच्छिन्न अर्थात् ब्रह्मरन्ध्र में प्राप्त होता है वह समस्त सम्प्रदायों के साधन का मूल माना गया अर्थात् वही ब्रह्म सत्सम्प्रदाय द्वारा प्राप्त होने योग्य फल है, क्योंकि इस ब्रह्म की प्राप्ति हो जाने पर फिर वह साधक सदा के लिये यम-यातना से छुटकारा पा जाता है। "तयोर्द्ध्वमायन्नमृतत्वमेति" एवं "न स पुनरावर्तते" ऐसी ऐसी अनेकों श्रुतियाँ इस आशय को पुष्ट करती हैं ।।१९।। यहाँ तक की पाँचों श्रुतियों का संक्षिप्त सार क्रमशः इस प्रकार अवगत होता है :—

भगवद्भक्ति द्वारा ही भगवान् का साक्षात्कार एवं भगवद्भाव की प्राप्ति हो सकती है, उसमें बाधक है—अविद्या, उसके आवरण को हटाने की किसी भी जीव में शक्ति नहीं है, अतः इस प्रथम श्रुति द्वारा यह प्रार्थना की जाती है :—हे प्रभो ! आप सर्वशक्तिमान् सर्वसमर्थ हैं। चराचर में तो आपकी ही दी

हुई शक्ति है। अतः आगम निगम सभी की आपसे यही प्रार्थना है—इस आश्चर्यमयी माया के आवरण (परदे) को हटाइये ॥१॥

हे प्रभो ! हमारे अन्दर इन्द्रादि नामों से भी आपका ही उल्लेख है, क्योंकि आप अन्तर्यामी एवं नियन्ता रूप से उन सबमें स्थित हैं। जिस प्रकार किसी महल के ऊपर या अन्दर बैठे हुए किसी व्यक्ति के पदचिन्ह पृथ्वी पर दिखाई न देने से यह नहीं कहा जा सकता कि इस व्यक्ति ने पृथ्वी पर पैर नहीं रक्खें होंगे ॥२॥

हे त्रिभुवनाधीश्वर ! आपकी कथा के श्रवणमात्र से ही प्राणी जब त्रिविध तापों से छुटकारा पा जाते हैं। तव हे परम ! आनन्दस्वरूप आपके चरण-कमलों के आश्रितजनों का तो कहना ही क्या ? ॥३॥

हे प्रभो ! महत्तत्वादि के अधिष्ठाता देव आपके अनुग्रह से ब्रह्माण्ड की रचना कर सकते हैं, अन्नमय आदि कोषों में आप ही अन्तिम आनन्दमय एवं स्थूल सूक्ष्म से परे हैं अतः ये सब आप में लीन हो जाने पर आप ही एक अवशिष्ट रहते हैं। इसलिये जो प्राणी आपके स्वरूप का ध्यान व कथामृत पान करते हैं उन्हीं का जीवन सार्थक है। आपकी भक्ति से रहित प्राणियों का जीवन श्वासोच्छ्वास लेना तो भस्त्रा (भाँति धौंकनी) के समान व्यर्थ एवं दूसरे प्राणियों को भी सन्तप्त करनेवाला है ॥४॥

संक्षेप में उपासना, स्थूल, सूक्ष्म और दोनों से परे एवं अपरिच्छिन्न उदरस्थ ब्रह्म, हृदयस्थ दहर ब्रह्म और इन दोनों से परब्रह्म, रन्ध्रस्थ ब्रह्म की उपासना, त्रिविध उपासना अधिकारों के अनुसार कर्तव्य है। प्रथम सामान्य ऋषि सम्प्रदायवालों के लिये उदरस्थ ब्रह्म हैं, और आरुणि ऋषि ने हृदयस्थ दहर ब्रह्म तथा सम्प्रदाय मूल श्रीहंस सनकादि द्वारा ब्रह्म रंध्रस्थ ब्रह्म का ध्यान

हृद्गतत्वेन हृत्तद्धर्मसम्बन्धप्रतीतिं वारयन्नीश्वरं स्तौति। "एको देवः सर्वभूतेषु गूढः, सर्वव्यापी सर्वभूतान्तरात्मा। कर्माध्यक्षः सर्वभूताधिवासः, साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्चेति", अथर्वणमंत्रः। स्वकृतेति स्वकृतविचित्रयोनिषु स्वीययाऽचिन्त्यया स्वाभाविक्या शक्त्या कृतासु रचितासु विचित्रासु नानाविधासु ब्रह्मादिस्थावरांतासु योनिषु विशन्निव तारतम्यहीनोऽपि त्वं

बतलाया गया है। इस श्रुति में आये हुए उदर और कूर्प दृश शब्दों का तात्पर्य्य टीकाकारों ने भिन्न-भिन्न प्रकार का दर्शाया है ॥५॥

पूर्व श्रुति में भगवान् को हृदयस्थ बतलाया है, इससे किसी को यह भ्रम न हो कि हृदय और उसके जड़त्वादि धर्मों से सम्पर्क होने से भगवान् में भी कभी वे लिप्त न हो बैठें, इस आशंका का निवारण करते हुए प्रभु का स्तवन किया जा रहा है :—अथर्वणवेद की "एकोदेवः०" यह श्रुति भगवान् को सम्पूर्ण भूतप्राणियों में निगूढ़ (अन्तर्यामी) रूप से स्थित, सर्वव्यापक, सम्पूर्ण भूतप्राणियों की अन्तरात्मा, कर्मों के अध्यक्ष साक्षी चेतन केवल (शुद्ध) निर्गुण निर्दोष बतलाती है। वही तात्पर्य "स्वकृत०" इत्यादि रूप यह श्रुति बतलाती है कि भगवान् अपनी अचिन्त्य स्वाभाविक शक्ति द्वारा रची हुई विचित्र (ब्रह्मादि स्थावर पर्यन्त) योनियों में प्रविष्ट होकर उनके किये "कर्मों को जैसे आप ही कर रहे हों", ऊँच नीच योनियों के अनुसार ही प्रतीत होते हैं, तारतम्य हीन (एक रस) होते हुए भी मूर्खों को। इस सम्बन्ध में अग्नि का दृष्टान्त दिया जाता है—जिस काठ में अग्नि व्याप्त है, दग्ध काठ बाँका टेढ़ा छोटा बड़ा जैसे भी आकार का होगा अग्नि का भी वैसा ही आकार दिखाई देगा। यहाँ "विशन्निव" में इव शब्द का तात्पर्य है भगवान्

सर्वान्तिर्यामी स्वकृतानुकृतिः सन् तरतमतश्चकास्सि । अञ्जः प्रतीयसे स्वेन कृता योनिरनुकरोतीति तथा । तत्र दृष्टान्तः— अनलवत् काष्ठादिसंबद्धाग्निरिव विशन्निवेत्यत्र इव शब्दस्य सार्थकतामाह हेतुतया कारणत्वेन विद्यमानतया तथा च द्वितीये स्पष्टोक्तिः :—

यथा महान्ति भूतानि भूतेषूच्चावचेष्वनु ।
प्रविष्टान्यप्रविष्टानि तथा तेषु न तेष्वहमिति ॥

अथ अतो हेतोर्विथतासु च्युतस्वभावास्वस्थिरास्वमूषु तव धामावितथम् । अप्रच्युतस्वभावं यर्थाथं वस्तु अतएव समं, समत्वादेव एकरसं निर्विकारम् ॥ विरजधियः=शुद्धसत्वा-स्तत्राप्यभिविपण्यवः, सर्वतोनिर्वेदवन्तः । यांति प्राप्नुवन्ति, नु निश्चितम् ॥२०॥

कारणत्वेन सर्वत्र विद्यमान हैं। इसी आशय का श्रीमद्भागवत द्वितीय स्कन्ध अ० १० श्लो० १३ में स्पष्टीकरण किया गया है—जिस प्रकार महाभूतों में उच्चता अनूचता, प्रवेश अप्रवेश है उसी प्रकार मैं सब भूतों में हूँ—परन्तु लिप्त नहीं हूँ। इसलिये श्रुति का कथन है कि अस्थिर च्युत स्वभाववाली इन आकृतियों में हे प्रभो ! आपका धाम (प्रकाश) अवितथ (यथार्थ) अप्रच्युत स्वरूप सम एक रस अर्थात् निर्विकार है। शुद्ध सत्ववालों में भी जो अभिविपण्यव सब प्रकार निर्वेद (विराग) वान् हैं वे ही आपके सम (एक रस) रूप का अनुभव करते हैं। यहाँ "समं" शब्द की व्युत्पत्ति=मया=श्रीराधिकया सहविराजते सः समः तं समं=ऐसी व्युत्पत्ति हो सकती है जिसके द्वारा समं शब्द का अर्थ होता है "श्रीराधाकृष्ण युगलरूप"। "राधाकृष्ण मयं जगत्" इस युगलकिशोररूप की अनुभूति शुद्ध सत्ववाले अनन्य भगवद्भक्त ही कर सकते हैं ॥२०॥

स्वकृतपुरेष्वमीषु[1] बहिरंतरसंवरणं
तव पुरुषं वदंत्यखिलशक्तिधृतोंऽशकृतम् ।
इति नृगतिं विविच्य कवयो निगमावपनं
भवत उपासतेंऽघ्रिमभवं भुवि विश्वसिताः ॥२१॥

अन्वय—स्वकृतपुरेषु अमीषु बहिः अन्तः असंवरणं पुरुषं अखिलशक्तिधृतः तव अंशकृतं वदन्ति इति नृगतिं विविच्य, कवयः भुवि विश्वसिता निगमावपनं अभवं भवतः अंङ्घ्रि उपासते ।

ईश्वरस्वरूपमनूद्य जीवस्वरूपं कथयन् वैदिकनिष्ठां निरूपयति ॥ स्वकृतेति ॥ स्वकृतपुरेषु अमीषु पूर्वोक्तप्रकारेषु बहिरंतरसंवरणं त्वां श्रुतयो वदन्ति, प्रतिपादयन्ति । अंतर्या-मित्वेनान्तः सर्वाधिष्ठानत्वेन च बहिस्तथात्वेऽप्यसंवरणं

संक्षिप्त सार :—प्रभु स्वरचित विचित्र योनियों में कारण रूप से स्थित हैं। सब में प्रभु की समान झलक है। न्यूनाधिकता उन योनियों के अनुरूप है। जैसे काठ में समान रूप से स्थित अग्नि प्रज्वलित होने पर काष्ठ की आकृति के अनुकूल दिखाई पड़ता है। यद्यपि ये सब योनियाँ विनष्ट हो जाती हैं किन्तु प्रभु अविनाशी हैं, इस आशय को प्रभु के कृपापात्र ही जान पाते हैं।

पूर्व श्रुतियों द्वारा ईश्वर के स्वरूप का निरूपण करके अब जीव की स्वरूप सम्बन्धी वैदिकी निष्ठा (वैदिक तात्पर्य) का निरूपण किया जाता है :—अपने बनाये हुए इन पुरों में इससे पूर्ववाली श्रुतियों में जिस प्रकार परमात्मा को समस्त भूतप्राणियों के अन्दर और बाहिर व्याप्त बतलाया है, किन्तु व्याप्त होने पर भी असंवरण (निर्लिप्त) है। यहाँ यह जिज्ञासा हो

१—कुछ टीकाकारों ने "ष्व" पाठ भी माना है।

तत्संबन्धाद्यनावृतं । तत्र हेतुः ॥ पुरुषं पूर्णं, योयो जीववद्योनिषु भात्यनन्तो मूढैस्तमोगर्भरताधिगम्यः । निचाय्य तं शाश्वतमात्मसंस्थं, तदिच्छ्वोतमन्यदधुर्महान्तः" ॥ इतिकमठश्रुतिः ॥ "अंतः प्रविष्टः शास्ता जनानां, एष ते आत्मांतर्याम्यमृत" इत्यारण्यके "न नियम्यः स कस्यापि, स सर्वस्य नियामक" इति कमठश्रुतिः । "एको देव" इत्यादिनाऽनुवादः । एवंभूतस्याखिलशक्तिधृतस्तवांशकृतम्, अंशेन शक्तिरूपेण भिन्नं, कृतीच्छेदने इत्यस्माद्धातोः "विज्ञानात्मानं वदन्तीति सम्बन्धः, तथा च श्रुतयः ॥ अंशोह्येष परस्ययोऽयं पुमानुत्पद्यते च म्रियते च नानाह्येनं व्यपदिशंतीति" पाराशर्यायणश्रुतिः । "अंशोह्येष परस्य भिन्नं ह्येनमधीयते"

सकती है कि जो अन्दर है वह बाहर कैसे रहेगा और जो बाहर रहे वह अन्दर स्थित कैसे माना जायेगा ? इसका टीकाकार समाधान करते हैं कि प्रभु अन्तर्यामी रूप से तो जीवमात्र के अन्दर (हृदय में) स्थित हैं और अधिष्ठान (आधार) रूप से बाहिर स्थित हैं, किन्तु फिर भी वे उनसे आवृत (घिरे हुए) नहीं । क्योंकि वे पूर्ण पुरुष हैं, इस कथन की पुष्टि "यो यो जीववद्योनिषु" यह कमठ श्रुति, "अन्तः प्रविष्टः०" यह आरण्यक श्रुतिः । तथा "न नियम्यः स" यह कमठ श्रुति, "एकोदेवै०" इत्यदि श्रुतियों द्वारा इसी आशय का अनुवाद (अनुकथन) किया जाता है ।

इस प्रकार समस्त शक्तियों को धारण करनेवाले हे प्रभो ! यह जीवसमूह आपका ही अंश है, अंश का तात्पर्य कोई छिन्न-भिन्न होनेवाला अंश (टुकड़ा) भाग नहीं समझना, अपितु शक्तिरूप अंश होने से भिन्न है । श्रुति में "अंशकृत्" शब्द का अन्तिम वर्ण कृत् कृती छेदने धातु से बना हुआ है । अंशी (परमात्मा) और अंश (विज्ञानात्मा) इन दोनों का भेद सम्बन्ध

इत्यग्निवेश्यश्रुतिः । "अंशोनानाव्यपदेशादिति" पारमर्षं सूत्रम् ॥ "ममैवांशो जीवलोके" इत्यादिना भगवदुक्तिश्च । अन्यत्र चाभेदेनापि श्रुतयः प्रतिपादयंति "ब्रह्मदासा ब्रह्मकितवा" इत्यादिकाषायणश्रुतिः ॥ तत्त्वमसी"त्यादिश्च, क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धीत्यादि स्मृतिश्च । इतिहेतोः उभयविधवाक्यप्रामाण्यात्, उक्तप्रकारेणभिन्नाभिन्नरूपां नृगतिं प्रत्यगात्मस्वरूपं विविच्य देहादिभ्यो विभक्तीकृत्य कवयो विवेकिनो विवेचनकुशलाः, नतु कुतर्कनिष्ठा भगवत्पराङ्मुखाः । तत्प्राप्तये भवतोंऽघ्रिम् उपासते,

---

भी श्रुतियों में कहा गया है :—"अंशोह्येषः परस्यै" यह पाराशर्यायण श्रुति, और "अंशोह्येष परस्य भिन्नं०" यह अग्निवेश्य श्रुति बतलाती है । श्रीवेदव्यासजी ने इन समस्त श्रुतियों का सक्षिप्त रूप से स्वरचित अंशोनानाव्यपदेशात्० ब्र०सू० २।३।४३ में स्पष्ट कर दिया है । स्वयं भगवान् ने श्रीमुख से यही कहा है—"ममैवांशो जीवलोके" गीता० १५।७ ।

यहाँ यह प्रश्न हो सकता है कि उपर्युक्त प्रमाणों के अनुसार क्या परात्मात्मा और जीवात्मा भिन्न-भिन्न ही हैं ? नहीं। परमात्मा को अभेद सम्बन्ध भी "ब्रह्मदासा ब्रह्म कितवा०" इत्यादि काषायण श्रुति एवं "तत्वमसि०" इत्यादि श्रुतियाँ बतलाती हैं ।

समस्त श्रुतिसार स्वरूप गीता अ० १३।२ भी "क्षेत्रज्ञं चाऽपि मां सिद्धि" यहाँ ईश्वर जीव दोनों का भेद सहिष्णु अभेद सम्बन्ध अर्थात् तादात्म्य बतला रही है ।

इस प्रकार भिन्नाभिन्न (भेदाभेद द्वैताद्वैत) रूप से नृ गति ईश्वर जीव सम्बन्ध की विवेचना तथा देह इन्द्रियादि से जीव को विभिन्न सिद्ध कर कविजन (विद्वान्) जिन्हें शास्त्रीय वचन और सत्पुरुषों के उपदेशों पर विश्वास है, वे आपके चरण-

किं व्यवहारदृष्ट्या ! न, भुवि विश्वसिताः इदमेव प्राप्यं प्रापकं चेति विश्वासयुक्ताः संतः निगमावपने निगमोक्तपुरुषार्थानां क्षेत्रं पुरुषार्थचतुष्टयदातारमित्यर्थः । अतएवाभवं भवनिवर्तकं भवसम्बन्धशून्यमित्यर्थः ।।२१।।

दुरवगमात्मतत्वनिगमाय तवात्ततनो
श्चरितमहामृताब्धिपरिवर्त्तपरिश्रमणाः

कमलों की आराधना करते हैं। क्योंकि उन्हें यह दृढ़ विश्वास हो गया है कि प्रभु ही प्राप्त करने योग्य हैं और उनका अंशरूप यह जीवसमूह उन्हें प्राप्त करने योग्य हैं। क्योंकि अंश अपने अंशी को प्राप्त करने के लिये लालायित रहता है, यह स्वाभाविक है। सभी यह ऐसा प्रत्यक्ष अनुभव करते हैं, जैसे बालक (अबोध शिशु) माता-पिता का ही एक अंश है वह अपने अंशी माता-पिता (अभिभावक) को प्राप्त करने के लिये छटपटाता रहता है।

प्रभु के चरणकमल निगमावपन कहे जाते हैं अर्थात् वेदों में जो धर्म अर्थ काम और मोक्ष ये चार पुरुषार्थ कहे जाते हैं उनका वपन (बोने) योग्य क्षेत्र अर्थात् चारों पदार्थों को देनेवाला है। अतएव वह अभव अर्थात् भव=संसार, उसका निवर्तक (जन्म-मरणरूप संसार के सम्बन्ध का विच्छेदन करनेवाला) है ।।२१।।

संक्षिप्त सार :—अपने रचे हुए इन पुरों में प्रभु अन्तर्यामी रूप से सबके हृदयों में विराजते हैं और आधार रूप से सबके बाहर भी स्थित रहते हैं। इस प्रकार धारक और नियामक समझ कर विश्वासी भक्त संसारनिवर्तक, मोक्षप्रदाता प्रभु की उपासना करते हैं।

न परिलषंति केचिदपवर्गमपीश्वर ते
चरणसरोजहंसकुलसंगविसृष्टगृहाः ।।२२।।

अन्वय—हे दुरवगम ! आत्मतत्वनिगमाय अत्ततनोः तव चरितमहामृताब्धिपरिवर्तपरिश्रमणाः, केचित् ते चरणसरोजहंसकुलसंगविसृष्टगृहाः हे ईश्वर अपवर्गम् अपि न परिलषन्ति ।

"भक्तिरेवैनं नयति भक्तिरेवैनं दर्शयति भक्तिवशः पुरुषो भक्तिरेव भूयसीति" माठरश्रुतिः भक्तेर्गरीयस्त्वं, तन्निष्ठानां निःस्पृहत्वं च द्योतयन्ति स्तौति दुरवगमेति हे दुरवगम दुःप्राप ! आत्मतत्वनिगमाय आत्मनः स्वस्य भगवतः तत्त्वं स्वरूपं यस्य ज्ञापनाय आत्ततनोराविष्कृतसदानंदविग्रहस्य तव चरितं कथा एवामृताब्धिस्तसवर्त्तोऽवगाहनं स्नानपानस्थानीभूतेन श्रवणा-

---

"भक्ति ही प्रभु को प्राप्त करा सकती है" वही साक्षात्कार कराती है, इतना ही नहीं पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् भक्ति के वशीभूत तक हो जाते हैं, इसलिये भक्ति का स्थान बहुत ऊँचा माना जाता है अतएव माठर श्रुति भक्तिनिष्ठ साधकों की निस्पृहता द्योतन करती हुई उन भक्तों की प्रशंसा करती है :—हे दुरवगम ! (बड़ी कठिनाई से प्राप्त होने योग्य प्रभो ! आप अपने अनन्य भक्तों को साक्षात्कार कराने के लिये हो अपने सच्चिदानन्द स्वरूप विग्रहों शरीरों को धारण करते हैं। आपके चरित्रों की कथा ही अमृत के समुद्र हैं, उनमें अवगाहन स्नान पानरूप (श्रवण मननादि) सेवन के अभिनिबेश में जिन्होंने लौकिक व्यवहारों (व्यापारादि धन्धों) के फल उनसे होनेवाले राग-द्वेष आदि श्रमो को त्याग दिया हो वे। यहाँ इस श्रुति के "चरित महामृताब्धि परिवर्तपरिश्रमणा०" समस्त पद के और भी अर्थ हो सकते हैं, उनमें से तत्वप्रकाशिकाकार दिखाते हैं :—

दिना सेवनं तेन परिश्रमणं येषां ते तथा। कथामृतश्रवणाद्यभि-निवेशेन त्यक्तव्यवहारतत्फलरागादिदोषात्मकश्रमा इति यावत्। यद्वा परिश्रमणाः परिकर्षेण तदभ्यासरूपं श्रमणं येषां ते। यद्वा अन्यसाधनानि जन्म कोटिभिः कृत्वा चरमजन्मनि तव कथा-मृताब्धिमवगाहनं प्राप्य विश्रामवन्त निवृत्तसाधना इत्यर्थः॥ तदुक्तं "जन्मांतरसहस्त्रेषु, तपोदानसमाधिभिः। नराणां क्षीण-पापानां, कृष्णे भक्तिः प्रजायते" इति। एतदेव फलेच्छाभावेन द्रढयति। न परिलषन्तीति अपिशब्देन कैमुत्यन्यायमाह :— यद्यपवर्गमपि नेच्छन्ति त्रिवर्गस्य का वार्तेत्यर्थः॥ ननु नैत-न्नियमः। विषयिणां मुमुक्षाभावेऽपि भोगाभिलाषादर्शनादित्या-

---

परिश्रम का तात्पर्य है :—परि=कर्ष श्रमः=भगवच्चरित्र को पुनः पुनः कहने-सुनने का अभ्यास। अथवा "श्रम" शब्द का अर्थ है :—करोड़ों जन्म-जन्मान्तरों में अन्य-अन्य साधन करने कराने के अनन्तर आखिरी जन्म में हे प्रभो! आपके कथारूप अमृत सिन्धु में स्नान करके विश्राम पाने पर समस्त साधनों से जो निवृत्त हो गये हैं, वे।

शास्त्रों में ऐसे प्रमाण मिलते हैं—तप दान, समाधि आदि साधनों के द्वारा हजारों जन्मों में मनुष्यों के पाप कर्म क्षीण हो जाते हैं तब कहीं श्रीकृष्ण में ऐसी अनन्य भक्ति आविर्भूत होती है जो साधक फल की इच्छा न रखकर अपना कर्तव्य समझते हुए आराधना करते हैं वे मुक्ति की भी इच्छा नहीं रखते।

श्रुति के तृतीय पद में जो अपि शब्द है वह कैमुत्य न्याय के अनुसार यह अभिव्यक्त करता है कि जो अनन्य भक्त सर्वोच्च पदार्थ मुक्ति की भी इच्छा नहीं करते, उनको सांसारिक विनश्वर पदार्थों की तो इच्छा होगी ही क्यों। यदि कोई यह शंका करे कि—मुक्ति को इच्छा न होनेवालों को सांसारिक

शंक्याह॥ तव चरणसरोजहंसकुलसंगविसृष्टगृहाः इति, तव चरणसरोजाश्च ते हंसाश्च, यथा सरसो वियोगे पद्मानि शुष्यन्ति तथा तवचरणवियोगे तेषां प्राणधारणं दुष्करमित्येतत्तात्पर्य-कात्मकोपमार्गभितविशेषणं, तेषां कुलं समूहस्तत्संगेन विसृष्टा-

---

विषयों की भी इच्छा नहीं होगी, ऐसा कोई नियम नहीं, क्योंकि बहुत ऐसे भी मानव हैं जिन्होंने मोक्ष मुक्ति आदि के नाम भी नहीं सुने होंगे, यह स्वानुभूत नियम है कि जिन्हें जिसका परिचय ही न हो उन्हें उसकी इच्छा भी नहीं होती। "जानाति, इच्छति, प्रवर्तते" ऐसा नियम देखा जाता है कि पहले वस्तु का ज्ञान होता है, तब फिर उसे प्राप्त करने की इच्छा होती है और इच्छुक व्यक्ति ही उसकी प्राप्ति के साधन में संलग्न होता है। इस प्रकार मुक्ति की इच्छा न होनेवालों को भी अन्य लौकिक विषय भोगों की इच्छा हो सकती है। इसी आशङ्का की श्रुति का यह "चरणसरोजहंस०[1]" चतुर्थ पद निवृत्ति करता है।

१—कुछ टीकाकारों ने इस श्रुति के प्रथम पाद के तीन पदों की सम्बोधनों के रूप में व्याख्या की है।

इस श्रुति के चतुर्थपाद में प्रयुक्त "हंसकुल" शब्द एक प्राचीन विशिष्ट सम्प्रदाय का द्योतक है, हेमाद्री कृत चतुर्वर्ग चिन्तमणि (१२वीं शताब्दी के धर्मशास्त्रीय ग्रन्थ में कुल शब्द का प्रयोग सम्प्रदाय अर्थ में किया है—"निम्बार्को भगवान्येषां वांछितार्थ प्रदायकः। उदयव्यापिनी ग्राह्या कुले तिथिरुपोषणे॥" अर्थात् निम्बार्क-सम्प्रदाय के सज्जन उपवास में उदयव्यापिनी तिथि का ग्रहण करते हैं। निम्बार्क सम्प्रदाय के कुछ विद्वानों ने निम्बार्क शब्द का अर्थ "हंस" सिद्ध करने की चेष्टा की है। किन्तु बिचार-विमर्श से लगता है वह एक बुद्धिवैशद्य सूचक कल्पना है। "विदुषां किमशोभनम्"

स्त्यक्ताः स्वतः प्राप्ता भोगसंपन्ना गृहा यैस्ते । एवंभूतानां भगवच्चरणशरणैकाश्रयाणामत्यंतदौर्लभ्यं दर्शयति :—केचिदिति ॥ तथा चोक्तं षष्ठे "मुक्तानामपि सिद्धानां नारायणपरायणः। सुदुर्लभः प्रशान्तात्मा कोटिष्वपि महामुने" इति ॥२२॥

त्वदनुपथं कुलायमिदमात्मसुहृत्,
प्रियवच्चरति तथोन्मुखे त्वयि हिते प्रिय आत्मनि च।
न बत रमंत्यहो असदुपासनयाऽऽत्महनो
यदनुशया भ्रमन्त्युरुभये कुशरीरभृतः ॥२३॥

श्रुति का कथन है कि हे प्रभो ! आपके चरणकमल और वे हंस (भक्तजन) दोनों में अटूट अनुराग है। जिस प्रकार सरोवर सूखते ही कमल सूख जाते हैं और निर्जल सरोवर से हंस भी उड़ जाते हैं, उसी प्रकार आपके चरण कमलों का वियोग हो जाने पर अनन्य प्रेमी भक्तों का प्राण धारण भी दुष्कर हो जाता है। इस पद में ऐसे तात्पर्यवाला उपमागर्भित विशेषण है। उन भक्तजनों के संग से वे विसृष्ट गृह हो जाते हैं—अर्थात् भोग-सम्पदाओं सहित स्वतः प्राप्त गृहों को भी वे छोड़ देते हैं। ऐसे प्रेमीभक्त बहुत कम होते हैं, यह केचित् शब्द से स्पष्ट होता है। श्रीमद्भागवत के छठे स्कन्ध अध्याय १४ श्लोक ५ में कहा गया है—प्रशान्तचित्त भगवत्परायण अनन्य भक्त का अभाव तो नहीं है परन्तु करोड़ों मुक्त सिद्धों में भी मिलना कठिन है ॥२२॥

संक्षिप्त सार :—दुरवगम प्रभु अपने स्वरूप का ज्ञान कराने के लिये विग्रह धारण करते हैं (अवतरित होते हैं) मनोहर लीलायें करते हैं। उनका स्मरण मनन करनेवाले अनन्य भक्त सांसारिक भोग तो क्या मुक्ति की भी इच्छा नहीं करते।

अन्वय—भगवन् त्वदनुपथं इदं कुलायं आत्मसुहृत् प्रियवत् चरति तथा त्वयि न रमन्ति अहो बत उन्मुखे प्रिये आत्मनि हिते च असदुपासनया आत्महनः, यदनुशयाः कुशरीरभृतः उरुभये भ्रमन्ति।

पूर्वोक्तमेव भक्तेरुत्कर्षं व्यतिरेकमुखेन दृढीकर्तुं तद्विमुखान्निन्दति त्वदनुपथमिति, यद्यपीदं कुलायं शरीरं आत्मनः स्वस्य सुहृत्प्रियवच्चरति बंधहेतुर्भवति तथापि त्वदुन्मुखे आत्मनि जीवे "सकृदेव प्रपन्नाय तवास्मी"त्यादिना "मामेकं शरणं व्रज तेषामहंसमुद्धर्त्ता" इत्यादि स्वप्रतिज्ञापालनाय त्वयि श्रीभगवति प्रिये प्रसन्ने सति अनुपथमनुकूलं चरति कथंभूते त्वयि हिते सुहृदि "सर्वस्य शरणं सुहृदि"ति श्रुतेः अहोवत इति करुणया खेदं प्राप्ता सती श्रुतिराह न रमन्ति, त्वद्भजने न प्रवर्त्तन्त इति

पूर्व कहे हुए भक्ति के उत्कर्ष को दिखाने के लिये अब (यह श्रुति) व्यतिरेक व्याप्ति प्रमाण द्वारा यहाँ भगवद्विमुखों की अवज्ञा करती है :—यद्यपि यह कुलाय (कु पृथ्वी, उसमें लीन होने वाला) शरीर अपने प्रिय सुहृद के जैसा प्रतीत होता है तथापि हे प्रभो ! आप जीव के प्रति सदा उन्मुख रहते हैं, एक बार भी जो जीव अन्तः करण से यह कह देता है कि हे प्रभो ! मैं आप की शरण में हूँ, तो उस जीव को आप सदा के लिये अभय दे देते हैं। आपकी प्रतिज्ञा है "मेरी शरण में आ जाओ मैं तुम्हें सब पापों से मुक्त कर दूँगा (गीता १८।६६)। जो मेरे अनन्य भक्त हैं उनका उद्धार करने के लिये मैं शीघ्र ही प्रकट हो जाता हूँ। (गीता १२।७) ऐसी-ऐसी प्रतिज्ञाओं का पालन करनेवाले प्रसन्न एवं अनुकूल प्रिय सुहृद ! प्रभु मैं जो जीव अनुरक्त नहीं होता। श्रुति यही खिन्नता पूर्वक कहती है अहो ! यह कितने बड़े कष्ट की बात है। ऐसे जीव आत्मघाती

तत्र हेतुर्गर्भितविशेषणम् । आत्महनः आत्मनोघातः संसरणे तत्पराः त्वत्पराङ्मुखाः सन्तः विषयोन्मुखा इत्यर्थः ।। वक्ष्यते चैकादशे श्रीभगवान् स्वयमेव "नृदेहमाद्यं सुलभं सुदुर्लभं प्लवं सुकल्पं गुरुकर्णधारम् मयानुकूलेन नभस्वतेरितं पुमान्भवाब्धिं न तरेत् स आत्महेति तत्र हेतुमाह ।। असदुपासनयेति ।। असतामस्वतन्त्राणामनीश्वराणां मायाकृतैश्वर्यवतामुपासनया, तथा च श्रुतिः 'योऽन्यां देवतामुपास्ते अन्योऽसावन्योऽहमस्मीति, न स वेद यथा पशुरि"त्यादिच्छांदोग्ये, अस्या अर्थः यः पुमान्

कहे जाते हैं। श्रीमद्भागवत स्कन्ध ११ अ० २० श्लो० १७ में स्पष्ट कहा है कि "दुर्लभ मानुष देह सुलभता से मिल जाय, जो संसार समुद्र से तरने के लिये नौका के समान है, फिर उसे खेनेवाला कर्णधार रूपी गुरू मिल जाय तथा मेरी अनुकूलता रूप गमना-नुसार वायु मिल जाय, ऐसा योग मिल जाने पर भी जो जीव संसार समुद्र से न तरना चाहे उसे आत्मघाती न कहें तो और क्या कहा जाय ?

ऐसा क्यों होता है ? इसका कारण है :— असद् उपासना। अर्थात् वास्तविक ऐश्वर्य रहित मायिक ऐश्वर्य वाले देवों की उपासना। छाँदोग्य उपनिषत् में स्पष्ट कहा गया है कि 'जो सर्वेश्वर प्रभु को छोड़कर किसी अन्य की उपासना करता है और उसे एवं अपने को भी भगवान् से भिन्न मानता है चाहे वह देव ब्रह्मा शिव आदि देव ही क्यों न हों, उन्हें सर्वान्त-र्यामी प्रभु से भिन्न ईश्वर नहीं मानना चाहिये। जो ऐसी विभेद भावना रखता है वह कुछ नहीं जानता ऐसा सभी शास्त्रों का निष्कर्ष है।

यद्यपि मायिक ऐश्वर्य्य अन्य अन्य देवों में भी है, किन्तु वह सातिशय अतएव अनित्य है । निरतिशय ऐश्वर्यवाला

श्रीभगवतः सर्वेश्वरेश्वराच्छास्त्रयोनेः सकाशादन्यां देवतां ब्रह्म-रुद्रेन्द्रादिरूपामुपास्ते असौ ब्रह्मरुद्रादिरन्य ईश्वर अहमन्यो जीव इति भावनया स न वेद, तेषां सर्वेश्वरत्वशास्त्रयोनित्व-मायानियंतृत्वाद्यभावेन मायिकैश्वर्यवत्वेऽपिमोक्षदातृत्वाभावात् मायानिवारणस्य च मायानियन्त्राधीनत्वादिति भावः "मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते" इति वचनात् ।। भगवतो निरतिशयैश्वर्यादौ शास्त्रमेव प्रमाणं, "तमीश्वराणां परमं

ईश्वर तो एक ही है, उसी में सर्वेश्वरत्व, सर्व नियन्तृत्व माया नियन्तृत्व आदि की शक्तियाँ हैं। अन्य देवों में मायिक ऐश्वर्य होने पर भी वे माया का निराकरण नहीं कर सकते, अतः वे किसी मुमुक्षु को माया के दुःखों से मुक्त भी नहीं कर सकते। क्योंकि जो जिसका नियन्ता होगा वही उसका नियन्त्रण कर सकेगा। स्वयं भगवान ही कहते हैं कि जो मेरे शरण में आ जाता है वही मेरी आश्चर्यमयी माया से छुटकारा पा सकता है। गी० अ० ७।१४

श्रुतियाँ कहती हैं वह प्रभु ही समस्त ईश्वरों का ईश्वर है। महेश्वर है। देवों का भी वह देव (पूजनीय) है। पतियों पति और समस्त भुवनों का भी वही स्वामी है। उन से बढ़ कर तो क्या उनकी समता करनेवाला भी और कोई नहीं है। ज्ञान बल क्रिया आदि अनेक प्रकार की उनमें जो शक्तियाँ हैं वे स्वाभाविक ही हैं, आगन्तुक नहीं हैं। वही सब का कारण है, उन्हें पैदा करनेवाला कोई भी नहीं है। अतएव उनसे कोई भी अधिका ऊँचा नहीं है । प्रलयकाल में वही एक अवशिष्ट रहता है। यह दृश्यमान और श्रूयमण चराचर उस समय उसी परमतत्व में लीन रहता है। कल्पान्त होने पर सृष्टि

महेश्वरं तं देवतानां परमं च दैवतम् । पतिः पतीनां परमं परस्तात् वदामि देवं भुवनेशमीड्यम् ।। न तस्य कार्यं करणं च विद्यते न तत्समश्चाप्यधिकश्च दृश्यते । पराऽस्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च ।। सकारणं करणाधिपाधिपः:, "न तस्य कश्चिज्जनिता न चाधिपः एको नारायण आसीन्न ब्रह्मा नेशानः । नारायणाद्ब्रह्मा जायते, नारायणाद्रुद्रोऽजायत" इत्यादि श्रुति कदम्बः ।। अन्येषां मायिकैश्वर्ये सातिशयत्वे चापि तदेव प्रमाणम् "जीवेशावाभासेन करोति माया चाविद्या च स्वयमेव भवती"त्यादिश्रुतेः ।। अस्या

(सर्ग) के समय वह लीन सूर्य चन्द्र आदि उसी में से प्रकट (अभिव्यक्त) हो जाते हैं।

अन्याऽन्य देवों के सातिशयत्व मायिक ऐश्वर्य्य बतलाने वाली "जीवेशावाभासेन करोति माया चाविद्या च स्वयमेव भवति" इत्यादि बहुत सी श्रुतियाँ हैं। तत्वप्रकाशिकाकार ने इन श्रुतियों का तात्पर्य इस प्रकार से बतलाया है कि—जीवमात्र भगवान् की चिद्शक्ति हैं अतः चित् शक्ति रूप से सब समान हैं, परन्तु ज्ञान आदि के तारतम्य से उनमें अतिशयत्व है, पुण्य आदि कर्मों के विशेष आभास से जोवों में जीव और ईश रूप में विभेद हो जाता है। जीव शब्द से जीव कोश मनुष्य आदि और ईश शब्द से ब्रह्म रुद्र इन्द्र आदि भाषित होते हैं। इस प्रकार ज्ञान शक्ति के अधिक से ही इन (ब्रह्मा रुद्र आदि) में ईश्वरत्व उपचरित होता है, अर्थात् मुख्य ईश्वरत्व न होकर गौण ईश्वरत्व इन में समझा जाता है।

यदि कोई पूछे कि जीव ईश के इस विभेद में क्या प्रमाण है ? तो श्रुति स्मृति रूप शास्त्र ही प्रमाण माना जायेगा "आत्म-

अयमर्थः ।। क्षेत्रज्ञानां सर्वेषामपि भगवतो ब्रह्मणश्चिच्छक्तित्वेनाविशेषत्वेऽपि ज्ञानादितारतम्यप्रकाशनात्मकेन मायाभासेन पुण्यादिरूपकर्मलक्षणाभासेन च स्वाभासेन जीवेशौ जीवं मनुष्यादिकोशं ब्रह्मरुद्रेन्द्रादि करोति भासयति, ज्ञानशक्त्या ऐश्वर्योपचारेण तच्च श्रुत्यैवोच्यते "आत्मनि श्रुते अश्रुतं श्रुतं भवती"त्यादि ऐश्वर्यतारतम्येनापि ईश्वरत्वमुपचर्यते जीवानामेव पुण्यतारतम्येन ब्रह्माद्यष्टलोकपालपदवीं प्राप्तानां श्रुतिभिरीश्वरादिशब्दैरुच्यमानत्वात् ।। अन्यथा "अजो ह्येकोजुषमाणोनुशेत" इत्यादि "प्रकृतिं पुरुषं चैव विद्ध्यनादी" त्यादिशास्त्रविरोधात् । तस्माज्जीवानामेव मायिकैश्वर्यादितारतम्यविभागः ।

निश्रुते अश्रुतं श्रुतं भवति" ऐसी बहुत सी श्रुतियाँ हैं। पुण्यादि कर्मों के तारतम्य से जिन जीवों ने ब्रह्मा आदि एवं अन्य लोकपाल आदि की पदवी प्राप्त कर ली है उन्हें श्रुतियों ने ईश्वर कह दिया है, वस्तुतः ईश्वर एक ही है। ऐसा न मानें तो "अजो ह्येको जुषमाणोऽनुशेते०" इत्यादि श्रुतियाँ बाधित हो जाती हैं। प्रकृतिं पुरुषं चैव० इत्यादि श्रुतियाँ जो एकेश्वरवाद का समर्थन करती हैं, वे बाधित हो जायेंगी।

इसलिये यही मानना होगा कि ज्ञान पुण्य आदि के तारतम्य से जीवों में जीव ईश विभेद होता है। यही उपर्युक्त "जीवेशावाभासेन०" श्रुति का तात्पर्य है। "मायाविद्ये स्वयमेव भवतः" यह माया और अविद्या की जो स्वयं भवनात्मिका नित्यता प्रदर्शित की गई है, उसका तात्पर्य यह समझना चाहिये कि जब ब्रह्म अनादि है तो उसकी शक्ति, रूप, माया और अविद्या की भी अनादिता सिद्ध हो जाती है।

वादी यह शंका करे कि ईश्वर ही न माना जाय, तो अविद्या का अस्तित्व ही न रहे। टीकाकार इसका उत्तर देते हैं,

मायाविद्ये स्वयमेव भवत इति ब्रह्मणोऽनादित्वेन तच्छक्तीना-मप्यनादित्वात् । नचेश्वराभावे मायासत्ताऽसम्भवः, "सदेव सौम्येदमग्र आसीत्तदैक्षत बहुस्यां प्रजायेये" त्यादिसर्ववेदविरुद्ध-त्वात् ।। केचित्तु जीवेशशब्दौ व्यष्टिसमष्टिवाचकौ" इति वदन्ति तच्चिन्त्यं, तथा चेश्वरोपासनाभावे मोक्षाभावः । श्रीशिवेनैव हरिवंशे घण्टाकर्णः स्वयमेवोपदिष्टः ।। स्वानुभवं घण्टाकर्णः— "अहं कैलाशनिलयमासाद्य वृषभध्वजम् आराध्य तं महादेव-मस्तुवं सततं शिवम् ।। ततः प्रसन्नोमामाह वृणीष्वेति वरं हरः । ततो मुक्तिर्मया तत्र प्राथिता देवसन्निधौ ।। मुक्तिं प्रार्थयमानं मां पुनराह त्रिलोचनः । मुक्तिप्रदाता सर्वेषां विष्णुरेव न संशयः ।। तस्माद्गत्वा च बदरीं, तत्राराध्यजनार्दनम् । मुक्तिं प्राप्नुहि गोविन्दान्नरनारायणाश्रमे" इत्यादि । एतच्च भारत-संदर्भे निपुणमुक्तम् । रुद्रादीनां मायिकैश्वर्ये राजधर्मे देवस्थान-

---

ईश्वर का अपलाप नहीं किया जा सकता "सदेव सौम्येदमग्र आसीत्" इत्यादि बहुत-सी श्रुतियाँ ईश्वर का प्रतिपादन करती हैं।

कुछ सज्जन जीव और ईश शब्द का क्रमशः व्यष्टि जीव और समष्टि जीव अर्थ भी करते हैं। किन्तु वह उचित नहीं कारण ईश्वर और उसकी उपासना बिना मोक्ष नहीं हो सकता। इस आशय की पुष्टि हरिवंश में शिवजी के वचनों द्वारा की गई है। उन्होंने घण्टाकर्ण को प्रसन्न होकर कहा था वर माँगो। तव घण्टाकर्ण ने मोक्ष की कामना की, शिवजी ने स्पष्ट कह दिया—मोक्ष हम नहीं दे सकते। मोक्ष चाहते हो तो बदरिकाश्रम जाकर तप करके जनार्दन (विष्णु) भगवान की कृपा प्राप्त करना होगा। मोक्ष वे ही दे सकके हैं। यह भारत सन्दर्भ में सुन्दर ढंग से प्रतिपादन किया गया है। रुद्र आदि का ऐश्वर्य मायिक है

वाक्यमपि प्रमाणम् ।। "महादेवो सर्वयज्ञे महात्मा हुत्वाऽऽत्मानं देवदेवो बभूव । विश्वाँल्लोकान् व्याप्य विष्टभ्य कीर्त्या, विराजते द्युतिमान्कृत्तिवासा" । इत्यादि असदुपासनस्य फल-माह ।। यदनुशया इति यदनुशया इति यस्याम् असदुपासनायां अनुशयो वासना येषां ते उरुभये संसारे भ्रमन्ति कथम्भूताः कुशरीरभृतः ग्रामसूकररक्षोगणादियोनिं गच्छन्तः संतः तस्मा-न्निरतिशयस्वाभाविकज्ञानक्रियादिशक्तिमतो भगवतोऽन्यस्यो-पासनया न संसारनिवृत्तिरिति सिद्धान्तः ।।२३।।

यह आशय महाभारत के राजधर्म अध्याय २१ में भी वर्णित है जो कि देवस्थानक नामवाले ऋषि ने धर्मराज युधिष्ठिर को बतलाया है—सर्वयज्ञ में अपना सब कुछ हवन करके ही शंकरजी ने देव देव महान् आत्मा का पद प्राप्त किया था, जो कीर्ति द्वारा सभी लोकों में व्याप्त होकर मृगचर्म धारण किये हुए द्युतियुक्त विराजमान हैं।

इस प्रकार मायिक ऐश्वर्य्यवाले देवों की उपासना को ही यहाँ असद् उपासना कहा गया है। इस असद् उपासना में जो वासनापूर्वक लगे रहते हैं वे संसार में महान् भयंकर हीन (ग्राम सूकर राक्षस आदि) योनियों में जन्म ले लेकर मरते रहते हैं। इसलिये इस श्रुति का संक्षिप्त-सार यही है कि— निरतिशय स्वाभाविक ज्ञान क्रियादि शक्तिवाले भगवान् सर्वेश्वर को छोड़कर उनसे अन्य किसी देव की उसे सर्वेश्वर एवं अंशी मानकर उपासना करने से उस उपासक की संसार से निवृत्ति (मोक्ष) नहीं हो सकती है।

श्रद्धेय श्री श्रीधर स्वामी ने जो "असदुपासनया" शब्द का तात्पर्य "देहाद्युपलालनेन" प्रकट किया है, उसी का अनुसरण श्रीजीव गोस्वामी कवि चूडामणि चक्रवर्ती आदि ने किया है।

श्रीविश्वनाथ चक्रवर्ती भी "असच्छास्त्राऽध्ययनाध्यापन लक्षणाभासेन" बतलाकर अथवा द्वारा फिर उसी देहाद्युपलालनेन पर जा टिके हैं। श्रीसुदर्शसूरि ने शब्दादि विषय सेवनया अर्थ किया है, श्रीवीरराघवाचार्य और श्रीनिवाससूरि ने भी सुदर्शनसूरि का ही अनुसरण किया है। योगी श्रीरामानुजाचार्य ने—धनिनां देहेन्द्रियादीनां वा विषयाणां वा अथवा रजस्तमोगुणप्रचुराणामिन्द्रादि देवतान्नराणां चोपसनाकरणेन" ऐसा लिखकर सिद्धान्त प्रदीपकार के अभिमत का ही समर्थन किया है। यद्यपि सभी टीकाकार महनीय हैं, उन्हें उस समय जैसा स्फूर्ण हुआ वैसा ही लिखा, सब ठीक ही कहा जा सकता है, परन्तु पूर्ववर्ती महानुभावों के कथन का आदर और उस पर विचार (योगाचार) करना उत्तरवर्ती जनों का कर्तव्य माना गया है, अतः यहाँ थोड़ा ऊहापोह कर लेना आवश्यक है—

शास्त्र में शब्द को अपर ब्रह्म माना गया है, अतः जिस प्रकार परब्रह्म अपार शक्ति सम्पन्न है उसी प्रकार अपर ब्रह्म शब्द का भी अनेकार्थत्व द्योतन करना स्वाभाविक है। इसी से "शब्दानामनेकार्थत्वं" उक्ति प्रसिद्ध है, परन्तु कौन से शब्द से कहाँ कौन सा अर्थ स्वीकृत किया जाय? इस सम्बन्ध में विवेचकों को "आकांक्षा, योग्यता, आसक्ति, तात्पर्य, ज्ञान आदि हेतुओं का सहारा लेना पड़ता है, ऐसी वृद्ध परम्परा है। शब्दार्थ निर्णय करने के लिये सर्वप्रथम व्याकरण का सहारा लेना आवश्यक है, प्रकृति (धातु) और प्रत्यय के अर्थ का बोध उसी से हो सकता है। व्याकरण के अतिरिक्त उपमान, कोष आप्तवाक्य, व्यवहार शब्द का शेष, विवरण और सिद्ध पद का सान्निध्य इन आठों कारणों में से कोई एक या अनेक कारणों की सहायता से ही शब्दार्थ का निश्चय किया जाता है। वृद्ध परम्परा का द्योतक

निम्नांकित श्लोक श्रीविश्वनाथ चक्रवर्ती ने स्वरचित न्यायसिद्धान्त मुक्तावली के शब्द परिच्छेद में उद्धृत किया है—

> शक्तिग्रहं व्याकरणोपमान कोषाप्तवाक्याद्व्यवहारतश्च।
> वाक्यस्य शेषाद्विवृतेर्वदन्ति सान्निध्यतः सिद्धपदस्य वृद्धाः॥

इस नियम के अनुसार यदि अन्तिम हेतु सिद्धपद के सांनिध्य द्वारा विचार किया जाय तो "असदुपासना" शब्द का निष्कर्षार्थ ज्ञात हो सकता है। यहाँ उपासना शब्द के साथ असत् शब्द जुड़ा हुआ है, उपासना शब्द का अर्थ साधन एवं उपाय आदि निश्चित हैं, उससे सम्बन्धित असत् शब्द उपासना से भिन्न अर्थ का ही द्योतक माना जायेगा, क्योंकि "असतः, उपासना" इस प्रकार यहाँ षष्टचन्त शब्द के साथ ही उपासना शब्द का समास हुआ है। दोनों ही शब्द भिन्न-भिन्न अर्थवाले होने चाहिये, जैसे "रामस्यदासः" इस समस्त पद में राम भिन्नार्थक (स्वामी) है और दास भिन्नार्थक (सेवक) है, इसी प्रकार "असत् उपासना" इस समस्त पद में भी असत् शब्द उपासना (साधन) से भिन्नार्थक (साध्य, या उपेय, उपास्य) मानना उचित है। देहेन्द्रियादि का उपलालन भी सुख-प्राप्ति का साधन और उपासना भी साधन ही है, अतः भेदसूचक षष्टी समास यहाँ "असदुपासना" पद में नहीं बन सकेगा। अतः असत् शब्द का तात्पर्य ब्रह्मा, शंकर, रुद्र आदि देवों से ही है। जो उपास्य कोटि में लिये जा सकते हैं, बहुत से साधक इनकी उपासना करते भी हैं। असत् शब्श में भी नञ् समास है, नञ् समास ६ षट् अर्थों में होता है जैसा कि शाब्दिकों ने बतलाया है—

> तत्साहश्य मभावश्च तदन्यत्वं तदल्पता।
> अप्राशस्त्यं विरोधश्च नञर्थाः षट् प्रकीर्तिताः॥

इनके उदाहरण हैं— १. अब्राह्मणः ब्राह्मण सदृश (क्षत्रियः)। २. ज्ञानाभावः (दीपक का प्रागभाव) तमः। ३. अज्ञानम् ज्ञानात् अन्यत्। ४. अनूदरी (कृषोदरी) कन्या। ५. अपण्डितः (अप्रशस्त पंडित)। ६. (असुरः) सुरविरोधी।

सत् शब्द का अर्थ जैसे व्यक्त, कार्य, स्थूल और सत्य (सच्चा) आदि प्रायः प्रसिद्ध है उसी प्रकार—अव्यक्त, कारण, सूक्ष्म और झूठा आदि अर्थों में असत् शब्द प्रयुक्त होता है। परन्तु सत् और असत् दोनों शब्दों का अर्थ कहीं-कहीं इससे विपरीत भी हो जाता है।

"सदेव सोमेदमग्र आसीदेकमेवाऽद्वितीयम्" इस छांदोग्य श्रुति में सत् शब्द का अर्थ स्थूल एवं कार्य न होकर सत्य, कारण, सूक्ष्म और सर्वाधार सर्वेश्वर बतलाया गया है। जो सबका प्रलय हो जाने पर दृश्यमान विश्व को अपने अन्दर लीन करके एक-सा ही बनकर अवशिष्ट रहता है। इसी प्रकार इदं पद से निर्दिष्ट (सत्) चराचर को भी प्रलयकाल में असद् बतलानेवाली श्रुति हैं।

श्री श्रीधरस्वामी विष्णुस्वामी सम्प्रदाय के अनुगत माने जाते हैं और उस सम्प्रदाय के मूल आचार्य रुद्र हैं। सम्भवतः इसी कारण से उन्होंने असद् शब्द का तात्पर्य ब्रह्मा, रुद्र, इन्द्रादि न बतलाकर देहाद्युपलालन ही असत् शब्द का अर्थ प्रकट किया हो और इसी कारण से रुद्रावतार माने जानेवाले श्रीशङ्कराचार्य के प्रतिविम्ववाद आदि मतों की पुष्टि की हो। यद्यपि श्रीवल्लभाचार्यजी को भी कुछ सज्जन विष्णुस्वामी सम्प्रदाय का अनुगत मानते हैं किन्तु उन्होंने तो साफ-साफ लिखा है कि—वैष्णव चार सम्प्रदायों में साम्प्रत विष्णुस्वामी के अनुसारी एवं तत्ववादी (मध्व) और रामानुज ये तीनों क्रमशः तमोगुण, रजोगुण,

निभृतमरुन्मनोऽक्षदृढयोगयुजो हृदि य
न्मुनय उपासते तदरयोऽपि ययुः स्मरणात्।
स्त्रिय उरगेन्द्रभोगभुजदण्डविषक्तधियो
वयमपि ते समाः समदृशोंऽघ्रिसरोजसुधाः ॥२४॥

अन्वय—निभृतमरुन्मनोऽक्ष दृढयोगयुजः मुनयः हृदि यत् उपासते अरयः अपि स्मरणात् तद् ययुः। उरगेन्द्र भोग भुजदण्डविषक्तधियः स्त्रियः (अपि तद् ययुः) वयं अपि समदृशः ते अंघ्रिसरोजसुधाः (पातुं) समाः।

सत्वगुण भेद से भिन्न हैं। हमारे द्वारा प्रतिपादित भक्ति तो निर्गुण है। (भाग० ३।३२।३७ की सुबोधिनी)। फिर भी उन्होंने असदुपासना का भाव दुष्टसंग बतलाकर इन्द्रियों की ओर ही संकेत कर दिया है।

अस्तु। असदुपासना (समस्त) पद उपास्य और उपासना दोनों का द्योतक अर्थ है, जो सहज सुलभ रूप से उपस्थित हो रहा है, फिर ब्रह्मा, रुद्र आदि को छोड़कर देहेन्द्रियाद्युपलालनपर्य्यन्त अनुधावन करना क्लिष्ट कल्पना ही कही जा सकती है। अतः सिद्धान्तप्रदीप एवं तत्वप्रकाशिकाकार का अभिमत ही युक्तियुक्त अवगत होता है ॥२३॥

पूर्व श्रुति में अनीश्वर (असद) की उपासना करनेवालों की जन्म-मरणरूप संसृति होना कहा गया है। अब प्रस्तुत श्रुति का इसलिये अवतरण हो रहा है कि "आत्मा वाऽरे द्रष्टव्यः" इत्यादि मन्त्रों में जो निदिध्यासन के द्वारा ही संसार की निवृत्ति बतलाई है, उसी का समर्थन किया जाता है, जो केवल वाक्य श्रवणमात्र से ही मुक्ति हो जाने का आग्रह करते हैं उनके मत का खंडन किया जाता है।

अनीश्वरोपासनया संसरतीत्युक्तम् इदानीमात्मा वा रे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मतव्यो निदिध्यासितव्यः, सोऽन्वेष्टव्यः स विजिज्ञासितव्य इति "अथातो ब्रह्मजिज्ञासे"त्यादिशास्त्रं भगवद्‌ध्यानस्यैव संसारनिवृत्तयेऽसाधारणकारणत्वं प्रतिपादयत् वाक्यज्ञानान्मोक्षं प्रलपतां पक्षस्य निष्प्रमाणत्वं दर्शयति ॥ निभृत-

---

जिन नारियों का चित्त शेषनाग के भोग (कलेवर) के समान प्रभु की भुजाओं में ही आसक्त हो रहा था, उन्होंने कामदृष्टि से ही स्मरण करके उस तत्व की प्राप्ति कर ली थी, इससे यही सिद्ध होता है कि भगवान् के सर्वज्ञत्व, सच्चिदानन्दत्व आदि गुण एवं स्वरूप का ज्ञान न होने पर भी भगवान् के चरण आदि किसी एक अंश के ध्यान करने मात्र से भी संसार निवृत्ति एवं भगवत्प्राप्ति दोनों एक साथ हो जाते हैं। तात्पर्य यह है कि भगवत्प्राप्ति और संसार निवृति निरपेक्ष माने गये हैं। स्वयं भगवान् का ही कथन है कि—मेरे स्वरूप गुण आदि को न जाननेवाली अवलाओं ने जार (प्रेमी पति) के भाव से ही मुझे चाहती हुई भी मुझ परब्रह्म को प्राप्त कर लिया।

श्रुत्यभिमानिनी गोपी रूप से कहती है कि हम सब श्रुतियों का समदर्शी प्रभु के दर्श स्पर्श एवं उससे मोक्ष प्राप्ति में समान अधिकार है।

इस श्रुति में चार प्रकार के अधिकारी ध्वनित होते हैं—पूर्वार्ध कलेवर में मुनिगण और दैत्यगण, तथा उत्तरार्द्ध कलेवर में गौपीगण और श्रुतिगण। श्रुति का कथन है कि हम आपके चरण-कमलों का अच्छी प्रकार ध्यान करती हैं, अतः पूर्वोक्त तीनों के समान ही हमारा भी आपकी भक्ति करने का अधिकार है।

मरुन्मनोक्षेति ॥ निभृतानि मरुदादीनि दृढयोगे समाधौ युक्तानि च यैस्ते विषयेभ्य उपरम्य परमात्मप्रश्रवणमननादिकरणका मुनयः हृदि यद्वस्तु ध्यायन्ति तदेवारयोपि वैरेण यं नृपतय इति—मिथ्यावासुदेवशिशुपालादयोऽपि तव स्मरणाद्ययुः प्रापुः। अहो ध्यानस्य माहात्म्यमिति हृष्यत्तनूरुहः पराशरोप्याह चतुर्थांशे "तच्च रूपमुत्फुल्लपद्मदलाक्षमि"त्यारभ्य "भगवानिह कीर्त्तितः संस्मरतश्च द्वेषानुबन्धेनाप्यखिलसुरासुरदुर्लभं फलं प्रयच्छति किमुत सम्यक् भक्तिमते"त्यन्तेन, तथा च स्त्रियोऽपि उरगेन्द्र-

---

जो सज्जन केवल वाक्य के ज्ञान से ही मुक्ति मानते हैं वह ठीक नहीं। अच्छी प्रकार स्वास प्रस्वास को रोककर दृढ़ समाधि द्वारा मन इन्द्रियों को परमात्मा में लगा मुनिजन जिस वस्तु को प्राप्त करते हैं, उसी वस्तु को वे विद्वेषी व्यक्ति प्राप्त कर लेते हैं, जो प्रभु से ईर्षा द्वेष रखते हैं, जैसा कि मिथ्या वासुदेव, शिशुपाल आदि ने वैरभाव से प्रभु का ध्यान किया था।

इस सम्बन्ध में श्रीपाराशरजी के विष्णुपुराण चतुर्थांश में "तत्र रूपमुत्फुल्लपद्म दलायताक्ष" इत्यादि गद्य सन्दर्भ में वर्णित है। इस प्रकार प्रेम से ध्यान करनेवाले प्रेमी और द्वेष से ध्यान करनेवाले विद्वेषी दोनों की ध्यान के द्वारा मुक्ति होती है, न कि केवल वाक्य ज्ञानमात्र से। इसी प्रकार "उरगेन्द्रभोग भुजदण्ड विषक्तधियः" शेषनाग के सुकोमल स्थूल लम्बायमान भुजाओं के पाशबन्ध में ही जिन नारियों का मन लगा हुआ था उन्होंने वस्तु तत्व की प्राप्ति कर ली। उनमें किसी को प्रभु के ज्ञान बलादि शक्तिरूप ऐश्वर्य का ज्ञान रहा हो परन्तु जिनको ज्ञान नहीं था उन्हें भी वही फल प्राप्त हो गया। इससे सिद्ध होता है भगवान् के किसी एक अंग के ध्यानमात्र से भी संसारनिवृत्ति हो जाती है, वह अन्य किसी साधन की अपेक्षा नहीं रखती। इस

भोगसदृशभुजदंडयोर्विषक्ताधीर्यासां तास्तदेवतत्त्वं कामदृष्ट्या प्रापुः। एतेन सर्वज्ञत्वादि सच्चिदानंदादिगुणस्वरूपादिज्ञानाभावेऽपि भगवत एकदेशध्यानमात्रस्यापि संसारनिवारणे भगवत्प्राप्तौ च निरपेक्षत्वं दर्शितम् ॥ तथा च वक्ष्यति "मत्कामा रमणं जारमस्वरूपविदोऽवलाः। ब्रह्म मां परमं प्रापु" रिति तथा वयमपि मंत्राभिमानिन्यो देवताः समदृशस्तव सर्वे पि चतुष्प्रकारेणोक्ता अधिकारिणः समाः मोक्षानंदभाज इत्यर्थः। कथम्भूताः तवांघ्रिसरोजं सुष्ठु धारयन्तो ध्यायमाना इत्यर्थः॥ वाक्यज्ञानान्मोक्षाङ्गीकारेऽति प्रसंगो दुर्वारः। तथाहि जन्मदरिद्रिणः पुंसो भोजनाच्छादनादिविहीनस्य वाक्योक्तकल्पतरुकामधेनुचिंतामण्यादिभिर्दारिद्र्यानिवृत्तिः, निगाढं कुहूशर्वर्यास्तमो वाग्विसर्जितभानोर्निवृत्तं च स्यात्, क्षुधया पीडितस्य

भाव को आगे कहेंगे—"मत्कामाः रमणं जारं०" (भाग०)। श्रुति कहती है जिस प्रकार प्रेमी, विद्वेषी और कामवासनावाली रमणियों का आपके ध्यान करने का अधिकार है, उसी प्रकार हमारा भी अधिकार है। आप समदर्शी हैं अतः अपने चरण-कमलों के सुधासब का हमें भी पान कराइये, हम पृथक् क्यों रहें। आपके ही गुण-गान में हम (सब श्रुतियाँ) सदा निरत हैं। आपकी दृष्टि में प्रेमी विद्वेषी गोपी और हम (श्रुति) चारों समान अधिकारी हैं।

जो वाक्यज्ञान से ही मोक्ष प्राप्ति मानते हैं उनके अभिमत में अति प्रसंग दोष आता है वह दूर नहीं हो सकेगा, जैसे किसी जन्म दरिद्री व्यक्ति को भोजन आच्छादन भी नहीं मिल रहा हो उसका नाम कल्पतरु, कामधेनु, चिन्तामणि रख दिया जाय तो उस वाक्य के ज्ञान से दरिद्रता नहीं मिट सकती, भानु शब्द के ज्ञान से ही अमावस्या की अन्धेरी रात में प्रकाश नहीं

चतुर्विधभोजनकथनमात्रेणक्षुधाहानिश्चेत्यलं विस्तरेण। तस्मात्सर्वज्ञसर्वशक्तेर्मायातद्गुणतत्सम्बन्धगन्धशून्यस्य ब्रह्मणस्तवैव ज्ञानाद्ध्यानान्यपर्यायात्तवानुग्रहयुक्तात् संसारनिवृत्तिरिति सिद्धान्तः ॥२४॥

क इह नु वेद बतावरजन्मलयोऽग्रसरं
यत उदगादृषिर्यमनु देवगणा उभये।
तर्हि सन्नचासदुभयं न च कालजवः
किमपि न तत्र शास्त्रमवकृष्य शयीत यदा ॥२५॥

अन्वय—हे प्रभो ! यतः ऋषिः उदगात् यं अनु उभये देवगणाः (उद्गुः) (तं) अग्रसरं इह अवरजन्मलयः को नु वेद बत यदा अवकृष्य (सर्वं) शयीत तर्हि सत् असत् उभयं न कालजवः शास्त्रं तत्र किमपि न।

तस्य भगवतः सविशेषनिर्विशेषलक्षणज्ञानं दुर्निरूप्यं,

हो सकता। भूख से पीड़ित व्यक्ति को भोजन शब्द कहनेमात्र से ही भूख की निवृत्ति नहीं हो सकती। इसीलिये सर्वशक्तिमान् माया और उसके गुण दोषों से निर्लिप्त ब्रह्म (आप) के अनुग्रह-युक्त ध्यान (अपर पर्य्याय ज्ञान) निदिध्यासन से ही संसार की निवृत्ति हो सकती है ॥२४॥

संक्षिप्त सार—प्रभो ! आप चाहे निर्गुण हैं या सगुण, अनिर्देश्य हैं या निर्देश्य, सदसत रूप हैं या उनसे अत्यन्त पर, किन्तु हम आपका ही प्रतिपादन करती हैं। आपके चरण-कमलों के सुधासव पान करने में हमारा भी उतना ही अधिकार है जितना अन्याऽन्य जनों का है। आपके तो प्रेमी और विद्वेषी सब समान हैं। अतः हमारे ऊपर भी अनुग्रह कीजिये।

भगवान् के स्वरूप और गुण एवं शक्ति आदि वैभव

तत्स्वरूपगुणशक्तीनामियत्ताशून्यत्वादित्याहुर्यतो वाचो निवर्त्तन्ते अप्राप्य मनसा सह। कोऽद्धा वेद क इह प्रावोचत् कुत आयाता कुत इयं विसृष्टिः। विष्णोर्नु कं वीर्याणि प्रावोचत् यः पार्थिवानि विममे रजांसि, नते विष्णोर्जायमानो न जात" इत्यादि श्रुतिगुंफ इत्यादि, बत इति हर्षे सम्बोधने वा इह लोके अग्रसरं अनाद्यनंतमीश्वरं देवदेवं त्वां को वेद न कोऽपीत्यर्थः॥ तस्य स्वतः सिद्धौ ह्यन्येषामर्वाचीनत्वे प्रमाणमाह यतस्त्वत्त ऋषिर्ब्रह्मा जातः "यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्वमिति" श्रुतेः। वेदो वा "एतस्य निश्वसितं यदृग्वेद" इति श्रुतेः यं ब्रह्माणं अनुपश्चादुभये आध्यात्मिकाधिदैविकदेवगणा जाताः संहारकालेऽत्यन्तं सूक्ष्मावरणं गता अपि त्वां न विदुरित्याह यदात्वं चेदं सर्वमवकृष्य

अपार होने से उनका माप जोख बतलानेवाले सविशेष निर्विशेष लक्षण एवं उनके ज्ञान का निरूपण करना भी कठिन है। "यतो वाचो निवर्तन्ते०" "को अद्धावेद०" विष्णोर्नु कं०। "नते विष्णोर्जमानो०" इत्यादि श्रुतिसमूह इसी आशय का वर्णन करता है।

इस श्रुति में "बत" शब्द हर्षसूचक एवं सम्बोधन परक समझना चाहिये, अतः हे प्रभो! आप अनादि अनन्त ईश्वर देवों के भी देव हैं, आपको कौन जान सकता है। आप स्वतः सिद्ध हैं अतः आप से अन्य सभी अर्वाचीन हैं। भाव यह है कि अर्वाचीन (पीछे उत्पन्न होनेवाला) प्राचीन के रहस्य को नहीं जान सकता। ऋषि=(लोक पितामह कहलानेवाला) ब्रह्मा को आपने उत्पन्न किया इसे "यो ब्रह्माण०" यह श्रुति स्पष्ट करती है। वेद भी आपका निश्वास ही तो है। आध्यात्मिक आधिदैविक देवगण भी ब्रह्मा के पश्चात् आप से ही प्रकट हुए हैं, और प्रलयकाल में ये सब अत्यन्त सूक्ष्मरूप से आप में ही लीन हो जाते हैं किन्तु आपको ये नहीं जान पाते। हे प्रभो! जब समस्त दृश्यमान

शयीत तदा न सत् स्थूलं नचासत् सूक्ष्मं न च कालजवः क्षोभकारणं उभयमिन्द्रियगणं किमपि शास्त्रं ज्ञापकं नास कुतो ज्ञानमित्यर्थः॥२५॥

जनिमसतः सतो मृतिमुतात्मनि ये च भिदां
विपणमृतं स्मरंत्युपदिशन्ति त आरुपितैः
त्रिगुणमयः पुमानिति भिदा यदबोधकृता
त्वयि न ततः परत्र स भवेदवबोधरसे॥२६॥

अन्वय—ये जनिं असतः च सतः मृतिं उत आत्मनि यद् भिदां स्मरन्ति विपणं ऋतं (स्मरन्ति) ते आरुपितैः उपदिशन्ति पुमान् त्रिगुणमयः इति भिदा त्वयि अबोधकृता ततः परत्र अवबोधरसे स न भवेत्।

जीवेशावाभासेन करोति माया चाविद्या च स्वयमेव भवतीति श्रुतेरीश्वरकल्पानां ब्रह्मरुद्रादीनां क्षेत्रज्ञानां सातिशयत्वजन्मत्वादिप्रतिपादनपरत्वमविज्ञाय भ्रांतिवशेनान्यथा कल्पमानानां कलौभविष्यतां स्वबुद्ध्योत्प्रेक्षितं सिद्धान्तमनूद्य

विश्व को अपने अन्दर लीन करके आप सो जाते हैं तब न तो सत् (स्थूल) दिखाई देता है, न असत् (सूक्ष्म), न काल का वेग रहता, न ज्ञानेन्द्रिय कर्मेन्द्रियों का गण, और सबको ज्ञापन करानेवाला शास्त्र भी लीन हो जाता है॥२५॥

जो व्यक्ति "जीवेशावाभासेन करोति०" इस श्रुति का तात्पर्य ईश्वर कल्प ब्रह्मा रुद्र आदि क्षेत्रज्ञों का सातिशयत्व जन्मत्व प्रतिपादन न जानकर भ्रान्तिवश और ही भाव की कल्पना करनेवाले कलियुग में होंगे, वे अपनी-अपनी बुद्धि के अनुसार कल्पित मत-मतान्तर स्थापित करेंगे। इसी आशय को प्रदर्शित

निरस्यति जनिमिति, ये केचित् असत ईश्वरस्य जीवस्य चेति तंत्रपाठेनोभयपरत्वं मायाविद्याभ्यां जीवं स्मरन्ति सतस्तस्यैवात्रापि तंत्रएव ज्ञानकाले मृतिम् अभावं स्मरन्तीति सर्वत्रानुषज्यते आत्मनि ब्रह्मणि भिदां सगुणनिर्गुणाध्यस्तोपहितध्येयज्ञेयादिलक्षणं च विपणं पण्यते निर्णीयतेऽनेनेति व्युत्पत्त्याप्रमाणं पणम् विगतं प्रमाणं वेदलक्षणं यस्मात्तद्विपणं प्रमाण-शून्यं जगत्सृष्टयादिव्यापारशून्यं वा वस्तु ऋतं परमार्थं स्मरन्ति, ते सर्वे आरुपितैः भ्रांतिभिरेवोपदिशन्ति न तत्त्वं जानंति कुतः अघटनात्। तथाहि न तावत् जीवेशयोर्जन्मनाशौ संभवतः अजत्वादनंतत्वाच्च तथा च श्रुतयः "द्वावजावीशानीशौ अजं

करके उसका इस श्रुति द्वारा निरसन किया जा रहा है। यहाँ असत शब्द ईश्वरकल्प (मायिक ऐश्वर्यवाले) और जीव इन दोनों का ही बोधक है, उनका माया अविद्या द्वारा जो जन्म मानते हैं एवं उसी सत् का ज्ञान हो जाने पर मृत्यु (अभाव) मानते हैं और ब्रह्म में सगुण, निर्गुण, अध्यस्त उपहित रूप भेद मानते हैं और वेद शास्त्रादि प्रमाण रहित जगत्सृष्टि स्थिति संहारादि व्यापार रहित वस्तु को जो पारमार्थिक मानते हैं, उनका ऐसा मानना और कथन करना भ्रान्तिमूलक है, क्योंकि वास्तव में वे तत्वज्ञ नहीं कहे जा सकते। क्योंकि जब साधारण जीवों का ही जन्म और नाश नहीं होता तब आगन्तुक ऐश्वर्य सम्पन्नों का जन्मनाश कैसे हो सकता है? द्वावजावीशानीशौ० अजं ध्रुवं०। अजो ह्येको०। वेदाहमेतमजरं पुराणं०। त एते वा चिदातमानोऽविनष्टाः।

इत्यादि श्रुतियों में स्पष्ट कहा गया है कि ईश और अनीश दोनों प्रकार के क्षेत्रज्ञ अज हैं। ईश जीव दोनों में एक (जीव) ही प्रकृति में संलग्न रहता है, दूसरा मुक्त जीव भुक्तभोगा-

ध्रुवं सर्वंतत्त्वैर्विशुद्धं, ज्ञात्वा देवं मुच्यते सर्वपाशैः, अजोह्येको जुषमाणोऽनुशेते जहात्येनां भुक्तभोगामजोऽन्यः। वेदाहमेतमजरं-पुराणं त एते वा चिदात्मानोऽविनष्टाः परं ज्योतिर्निर्विशंत्य-विनष्टा एवोत्पद्यन्ते न विनश्यन्ति कदाचने"त्यादिकाः "नत्वेवाहं जातु नासं न त्वं नेमे जनाधिपाः, नचैव न भविष्यामः सर्वे वयमतः परमिति भगवदुक्तिः ईश्वरस्य सर्वजनकत्वं सुप्रसिद्धम् स एवैक उद्भवे संभवे च, एष देवो विश्वकर्मा महात्मा विद्याऽविद्ये ईशते यस्तु सोऽन्यः "न तस्य कश्चित्पतिरस्थि लोके न यस्य कश्चिज्जनिता न चाधिपः" "स कारणं करणाधिपाधिप" इत्यादि-श्रुतिभिः सर्वकारणत्वसर्वनियंतृत्त्वसर्वकर्तृत्वसर्वाधिपतित्वादि-प्रतिपादनपूर्वकान्य-कार्यत्वान्यनियम्यत्त्वान्यकर्मत्वान्यपाल्यत्वा-दीनां डिंडिमघोषेण निषेधात्। इदमत्र चिंतनीयम् जीवेश्वरौ अनादी वा अर्वाचीनौ वा आद्ये तव सिद्धान्तहानिः आभासेन

प्रकृति को छोड़ देता है। दोनों प्रकार के चेतन अविनष्ट (जीवित रहकर ही परम ज्योति में प्रविष्ट होते हैं और जीवित रहते हुए ही अभिव्यक्त होते हैं, इत्यादि आशय व्यक्त करनेवाली बहुत-सी श्रुतियाँ हैं। इसी आशय का नत्वेवाहं० गी० २। यह भगवद्वाक्य समर्थन करता है।

इसी प्रकार सर्वाधार सर्वेश्वर का श्रुतियाँ प्रतिपादन करती हैं—वह सबका जनक है विश्वकर्मा है, सबका शासक है। विद्या-अविद्या दोनों का नियन्ता है। उसका कोई पति नहीं, पिता नहीं, शासक नहीं, ऐसा श्रुतियों को डिंडिमघोष द्वारा जीवों और ईश्वर के जन्म-मरण आदि का निषेध मिलता है।

यहाँ विचारणीय यह है कि जीव-ईश्वर अनादि हैं या अर्वाचीन? यदि अनादि कहें तब तो सिद्धान्त की हानी हो

करोतीत्यत्र कृञ्धातोः कर्मत्वासिद्धेः अनाद्योर्जन्मनाशानुपपत्तेश्च तदंगीकारे वाक्यमूकत्वप्रसंगात् ।। द्वितीये ।। अजत्वप्रतिपादक शास्त्रव्याकोपात् जीवईशोविशुद्धा चित्तथा जीवेशयोर्भिदा अविद्या तच्चितोर्योगः षडस्माकमनादयः । षडस्माकमनादयः इति संप्रदायविरोधेन अपसिद्धान्ताच्च ।। किंच ।। जीवस्य जन्मनाशाभ्युपगमे कृतनाशाकृताभ्यागमप्रसंगः अपि च माया-ऽविद्ययोः स्वयमेव भवतीति प्रमाणादनादित्वस्वतन्त्रत्वसर्व-नियंतृत्वाद्यपि अवश्यं स्वीकार्यं तथात्वे च ब्रह्मणि अतिप्रसंगेन

जायेगी । "आभासेन करोति०" इस श्रुति में करोति, कृञ् धातु का प्रयोग है वह सकर्मक है । इसका कोई कर्म बतलाना पड़ेगा, जीवों को अनादि मानने से वह कर्म नहीं बन सकते और इन जीवेशों को कर्म मान लेते हैं तो वह अनादि सिद्ध नहीं होगा, इस प्रकार वाक्य-मूकत्व प्रसंग आ जायेगा । यदि अर्वाचीन मानते हैं तब अनादि कहनेवाले वाक्य बाधित हो जायेंगे । उस मत में—१ जीव, २ ईश्वर, ३ विशुद्ध चित्, ४ जीवों का और ईश्वर का भेद, ५ माया, ६ माया का दोनों (जीव और ईश्वर) चेतनों के साथ योग, इन छहों की अनादिता मानी जाती है। अतः हमारे मत में छ अनादि हैं । इस प्रकार की मान्यता में विरोध आयेगा, उससे वह अप सिद्धान्त माना जायेगा । जीवों का जन्म और नाश मानने पर कृतनाश और अकृताऽभ्यागम ये दो बड़े भारी दोष उपस्थित होते हैं ।[1]

---

१. किये हुए के नाश को कृतनाश कहते हैं और जो बिना ही किये हुए कुछ मिल जाय उसे अकृत अभ्यागम कहते हैं । जीव को विनाशी मानने पर जो उसने कर्म किये थे वे सब बिना ही फल दिये नष्ट हो गये और जो जन्म होने पर सुख-दुःख मिले वे बिना ही कर्म किये प्राप्त हो गये । ऐसा होना नहीं चाहिये ।

जडत्वादिस्वरूपहानिप्रसक्तेः जडत्वादीनां स्वातंत्र्यादि समाना-धिकरणत्वाभ्युपगमे च घटादावतिव्याप्तिस्तेषां चापि जडत्वा-विशेषात् कालकर्मसंस्कारप्रागभावादयोऽपीश्वराद्युत्पादकाः स्युरिति भावः । मायाविद्याभ्यां ईश्वरादेर्जन्म सनिमित्तं वा निर्निमित्तं[1] वा ।। आद्ये तत्र निमित्तस्याप्रसिद्धत्वात् द्वितीये मुक्तानामपि तत् प्रसंगात् निर्निमित्तत्वस्य च तत्रापि सत्वात्, तस्मान्न कथमपीश्वरजीवयोर्जन्मनाशकथनावकाश इति नापि सर्वज्ञे स्वाभाविकाचिन्त्यानंतशक्तौ जगज्जन्मादि-कारणे ब्रह्मणि भेदकथनावकाशः "नेह नानास्ति किंचन मृत्योः

और भी देखिये—उपर्युक्त श्रुति में "माया और अविद्या" स्वयं होती हैं यह कहा गया है । इसी प्रमाण से उनकी अनादिता है अतः स्वतन्त्रता और सर्वनियन्तृता भी अवश्य मानना होगा । और उसके मानने पर वह ब्रह्म में अतिव्याप्त होगा, क्योंकि ब्रह्म भी स्वतन्त्र और सर्वनियन्ता है । परन्तु माया के समान जड़ हो जाने पर उसके स्वरूप की हानि हो जायेगी ।

यदि जड़त्व और स्वतन्त्रत्व दोनों एक में मान लिये जायें तो वह घट आदि जड़ पदार्थों में भी अतिव्याप्त होगा । अर्थात् काल, कर्म, संस्कार, प्रागभाव आदि जड़ पदार्थ भी ईश्वर के उत्पादक मानने पड़ेंगे ।

और यह भी आपत्ति है कि इन काल कर्म जड़ पदार्थों से ईश्वर आदि की उत्पत्ति सनिमित्त हैं या निर्निमित्त ? सनिमित्त तो कह नहीं सकते क्योंकि ईश्वर की उत्पत्ति में कोई निमित्त आज तक प्रसिद्ध हुआ ही नहीं है । अगर निर्निमित्त मानते हैं तो मुक्त आत्माओं का भी जन्म और नाश होने लगेगा । क्योंकि कर्मविशेष रूप जन्म-मरणादि का निमित उनमें भी नहीं है ।

---

१. तवाचार्याणामित्यर्थः ।

समृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यति, द्वितीयाद्वै भयं भवती" त्यादिना कारणान्तरनिषेधात् । नापिवैदिकप्रमाणशून्यं तत्त्वं, शशशृङ्गतुल्यत्वात् । सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति तं त्वौपनिषदं पुरुषं पृच्छामः । तत्ते पदं संग्रहेण ब्रवीमी" त्यादि श्रुतिव्याकोपादि' त्यादि दूषणकदम्बविविक्षया आह :—त्रिगुणमयः पुमानिति । त्रिगुणाया मायाया विकारभूतः पुरुष इति उपलक्षणं चैतत् उक्तपरामर्शस्य । इति भिदा पूर्वोक्तपक्षस्य भेदप्रकारः त्वयि पुरुषोत्तमे मायानियन्तरि अबोधकृता, तेषां नास्तिकानां स्वनेत्रेक्षितसिद्धान्तवादिनामबोधेनाज्ञानेन भ्रांत्या कृता कल्पिता, भास्करे उलूकैस्तमोवत् आरोपितेत्यर्थः । अतस्त्वयि स न भवेत्

इसलिये किसी भी प्रकार से ईश्वर और जीवों की उत्पति और मरण नहीं कहा जा सकता । इसी प्रकार स्वाभाविक अचिन्त्य अनन्त शक्तिवाले जगज्जन्मादि कारण परब्रह्म परमात्मा में भेद-भावना नहीं की जा सकती । इस आशय की नेहनाना०, मृत्योः समृत्युं०, द्वितीयाद्वै० इत्यादि श्रुतियाँ पुष्ट करती हैं । वैदिक प्रमाण रहित कोई भी वस्तु पारमार्थिक नहीं मानी जा सकती, जो वेदों से अगम्य ब्रह्म को मानते हैं, उनका वह ब्रह्मशश (खरगोश) के सींग के समान समझना चाहिये ।

ब्रह्म वही है जिसका वेद प्रतिपादन करते हैं "सर्वे वेदा-यत्पदं० तन्त्वौपनिषदं पुरुषं०, तत्ते पदं संग्रहेण०" इत्यादि श्रुतियाँ बाधित हो जायेंगी यदि ब्रह्म को वेद प्रतिपाद्य नहीं माना जायगा ।

उपर्युक्त इन्हीं सब दूषणों को दिखाने के लिये श्रुति कहती है—"त्रिगुण मयः पुमान्" इति अर्थात् पुरुष को त्रिगुणात्मिका अविद्या का विकार मानना बड़ी भारी मूर्खता है, जैसे उल्लू सूर्य में अन्धकार मानता है उसी प्रकार माया के नियन्ता

तेषामारोपो न संभवति । तत्र हेतुगर्भितविशेषणम् । ततः परत्रेति ॥ ततो मायाऽविद्या तत्कार्यजन्मादितत्सम्बन्धेभ्यः परस्मिन् अत्यन्तवैलक्षण्यवति, अतएव अवबोधरसे अवबोधश्चासो रसश्च तस्मिन्, नहि सूर्ये तमस्तत्कार्यावरणं तत्सम्बन्धश्च संभवति। तथा च श्रुतिः ।। "यः सर्वज्ञः सर्ववित्, यः कारणानि निखिलानि तानि कालात्मयुक्तान्यधितिष्ठत्येकः । न तस्य कार्यं करणं च विद्यते न तत्समश्चाभ्यधिकश्च दृश्यते, पराऽस्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते स्वाभाविकी" त्यादि, वेदाहं समतीतानि, न त्वत्समश्चा-भ्यधिकः कुतोऽन्यः, लोकत्रयेऽप्यप्रतिमप्रभाव" इति भगवद्-गीतायां च ॥२६॥

सदिव मनस्त्रिवृत्त्वयि विभात्यसदामनुजात्
सदभिमृशंत्यशेषमिदमात्मतयाऽऽत्मविदः ।
नहि विकृतिं त्यजन्ति कनकस्य तदाऽऽत्मतया
स्वकृतमनुप्रविष्टमिदमात्मतयाऽवसितम् ॥२७॥

त्रिगुणात्मिका माया से ऊपर निर्लिप्त परब्रह्म में माया का संश्लेष मानना महती मूर्खता है, क्योंकि ऐसा न कभी हुआ है न हो ही सकता है । क्योंकि वह सर्वज्ञ हैं, उसके समान ही जब दुनियाँ में दूसरा कोई नहीं है तब उससे बढ़कर तो होगा ही कहाँ से ।

इस श्रुति का तात्पर्य श्री श्रीधर स्वामी और अन्याऽन्य टीकाकारों ने भी न्यायवैशेषिक सांख्ययोग तथा कर्ममीमांसकों के अभिमतों के खण्डन परक सिद्ध किया है । अन्य टीकाकारों ने भी अधिकतर उन्हीं का अनुकरण किया है किन्तु वह विचारणीय है ॥२६॥

अन्वय—आमनुजात् त्रिवृत् मनः सदिव त्वयि असत् विभाति आत्मविदः (त्वद्विषयकं मनः) सद् अभिमृशन्ति इदं अशेषम् आत्मतया कनकस्य विकृतिं तदात्मतया न हि त्यजन्ति स्वकृतं तदनुप्रविष्टम् इदम् आत्मतया अवसितम्।

शक्तिशक्तिमतोः कार्यकारणयोश्च भिन्नाभिन्नत्वं स्पष्टयति ॥ सदिवेति। आमनुजात् मनुर्मन्त्रो मनुः स्वायंभुवो वा जायतेऽस्मादिति मनुजो ब्रह्मा चतुर्मुखपर्यन्तं क्षेत्रज्ञजातं प्रतित्रिवृत्त्रिगुणमयमनः सदिव स्वतंत्रतुल्यमपि मनः त्वयि विषयेऽसत् अस्वतंत्रं भाति, क्षेत्रज्ञानां वशीकरणे सामर्थ्यवदपि त्वद्वशीकरणेऽसमर्थं, त्वन्नियम्यमायाकार्यत्वादिति भावः। आत्मविदस्तु त्वयिमनः त्वद्विषयकं मनः सदेवाभिमृशन्ति, तव प्राप्तिसाधनत्वात् सत्कार्यत्वाद्वा, न केवलं एतावदेव सदभिमृशन्ति, किंतु इदमशेषं वस्तुजातमपि। कुत आत्मतया सद्रूपतया ॥ तथा च

अब इस श्रुति द्वारा शक्ति और शक्तिमान् एवं कार्य और कारण के भिन्नाभिन्नत्व सम्बन्ध का स्पष्टीकरण किया जाता है—मनुष्य का त्रिगुणात्मक मन यद्यपि मनुष्य के प्रति सत् इव (स्वतन्त्र जैसा) प्रतीत होता है परन्तु वह आपके विषय में असत् अस्वतन्त्र ही है। तात्पर्य यह है कि अन्याऽन्य जीवों को यह वशीभूत कर सकता है, किन्तु हे प्रभो ! आपको वश में नहीं कर सकता। क्योंकि आपके नियन्त्रण में रहनेवाली माया का यह कार्य है। यहाँ मनुज शब्द से साधारण मनुष्य से लेकर ब्रह्मापर्य्यन्त सभी क्षेत्रज्ञों को समझना चाहिये। कोषकारों ने मनु शब्द का अर्थ मन्त्र भी माना है। स्वायम्भुवमनुतो प्रसिद्ध ही है।

यदि यह प्रभु में संलग्न रहे तो आत्मज्ञानी जन इसे सत् समझते हैं, प्रभुप्राप्ति में यह विशेष साधन है और सत्कार्य भी

श्रुतिः "सन्मूलाः सौम्येमाः सर्वाः प्रजाः सदायतनाः सत्प्रतिष्ठाः सर्वं खल्विदं ब्रह्मे"त्यादि। तत्र दृष्टान्तमाह ॥ कनकार्थिनः कनकस्य विकृतिं कटककुण्डलादिरूपामन्यत्वेन नहि त्यजन्ति। तत्र हेतुः तदात्मतया कनकात्मत्वात्। किंच युक्तमेवैतत्। यतः स्वकृतं स्वेन सृष्टमिदं जडजातं तदनुप्रविष्टं विज्ञानात्मरूपं च तदात्मतयाऽवसितं शास्त्रेण व्यासादिभिरिति शेषः ॥ तथा च श्रुतिः ॥ "भोक्ता भोग्यं प्रेरितारं च मत्वा सर्वं प्रोक्तं त्रिविधं ब्रह्म मेतत् ॥ तत्त्वमसी" त्यादि असाधारणधर्मैर्भिन्नमपि साधारणैरभिन्नमिति निश्चितमिति भावः ॥२७॥

है। इतना ही नहीं अशेष जगत् की वस्तुमात्र को भी वे सत् ही समझते हैं क्योंकि जगत् के मूल आप ही हैं।

"सन्मूला सौम्येमाः सर्वाः प्रजाः०, सर्वं खल्विदं ब्रह्म०" इत्यादि श्रुतियाँ इसी आशय का प्रतिपादन करती हैं।

यहाँ सुवर्ण और कटक कुण्डलादि का उदाहरण दिया गया है :—जिस प्रकार सुवर्ण की विकृति (कार्य रूप भूषण कटक कुण्डल आदि) सुवर्ण ही कहे जाते हैं, सुवर्ण से भिन्न नहीं माने जाते। उसी प्रकार आपके ही द्वारा रचा हुआ जगत् (आप से ही समुत्पन्न) है, आप इसमें सम्प्रविष्ट भी हैं इसीलिये तो इसे निश्चित रूप से आत्मवित् आचार्य ब्रह्मात्मक घोषित करते हैं। भोक्ता भोग्यं प्रेरितारञ्च०, तत्वमसि, इत्यादि हम सब श्रुतियों ने यही निश्चित किया है, कि अपने परतन्त्रत्वादि असाधारण धर्मों से तो जगत् भिन्न है, परन्तु तदात्मकत्वादि साधारण धर्मों के कारण यह आपसे अभिन्न है। यही इस श्रुति का संक्षिप्त सार है ॥२७॥

तव परि ये चरन्त्यखिलसत्त्वनिकेततया
त उत पदाक्रमन्त्यविगणय्य शिरोनिर्ऋतेः ।
परिवयसे पशूनिव गिरा विबुधानपि ताँ-
स्त्वयि कृत सौहृदाः खलु पुनन्ति न ये विमुखाः ॥२८

अन्वय—ये त्वयि कृतसौहृदाः तव अखिल सत्वनिकेततया (त्वां) परि चरन्ति ते पुनंति उत निर्ऋते शिरो अविगणय्य पदा आक्रमन्ति ये विमुखाः (ते) न पुनन्ति (तरन्ति)।

भगवद्भक्ता ह्यनन्यशरणा एव तत्प्रसादेन तरन्तीत्यन्वय-व्यतिरेकाभ्यां प्रतिपादयन्त्यो वाक्यश्रवणान्मुक्तिं जल्पतोऽज्ञान् परिहसन्ति श्रुतयः ॥ "शृण्वंतोऽपि बहवो यं न विद्युः यमेवैष वृणुते तेन लभ्यः, तमक्रतुं पश्यति वीतशोको धातुः प्रसादा-न्महिमानमीशं, तपः प्रभावाद्देवप्रसादाच्च ब्रह्म ह श्वेताश्व-तरोऽथ विद्वानि" त्यादयः ॥ तवेति ॥ ये जनास्तवेति कर्मणि षष्ठी, त्वां परिचरन्ति सेवन्ते अखिलसत्त्वनिकेततया सर्वसत्त्वा-

भगवान् के परिचारक सेवक भक्त ही भगवत्कृपा से संसार समुद्र से पार होते हैं। इस आशय को वर्णन करती हुई श्रुतियाँ जो केवल वाक्य श्रवणमात्र से ही मुक्ति प्राप्त हो जाने की कल्पना करते हैं उनका उपहास करती हैं "शृण्वन्तोऽपि वहवो यं न विद्युः" वाक्य सुननेवालों में भी बहुतों ने जिसको नहीं जाना, जिन पर प्रभु की कृपा हुई, उसी को उनकी जानकारी एवं प्राप्ति हुई, प्रभु की कृपा से ही दृढ़ विश्वासवाले भक्तों ने प्रभु का साक्षात्कार किया। श्वेताश्वर ऋषि ने तपश्चर्या से प्रभु की प्रसन्नता होने पर ही ब्रह्म को प्राप्त किया।

इसी आशय को प्रस्तुत श्रुति अभिव्यक्त करती है :—हे प्रभो ! जो भक्त अखिल सत्त्व निकेतन की भावना से आपकी

धिष्ठानतया ॥ यद्वा अखिलसत्त्वान्तर्यामितया उभयथाऽपि नारायणं त्वां ये पूजयन्ति, त एव निर्ऋतेः शिरः पदा आक्रमंति ताडयन्ति तुच्छीकुर्वन्तीत्यर्थः ॥ तथा च श्रुतिः ॥ सर्वांगं ये प्रपश्यन्ति ब्रह्मानंदमजाक्षरम् । एकमेवाद्वयं नित्यंनिर्ऋतेस्ते शिरोगता" इति अन्वयमुक्त्वा व्यतिरेकमाह :—अभक्तांस्तु विबुधानपि श्रवणादौ कुशलानपि कालरूपस्त्वं गिरा वयं कुशला इति तेषां गिरा बध्नासि तत्र दृष्टान्तः ॥ पशूनिव ॥ यथा-क्रोशंतोऽपि पशून् पशुघ्ना बध्नन्ति तथा वेदवाक्योच्चारण-कुशलानपि परिवयस इत्यर्थः तथा च श्रुतिः । वयति गा इव यः

परिचर्या (सेवा) करते हैं, अर्थात् भगवान् समस्त सत्वों के अधिष्ठान हैं, अथवा भगवान् को सबके अन्तर्यामी समझकर उनकी आराधना करते हैं वे ही निर्ऋति (यमराज) के शिर पर पैर रखकर परलोक गमन करते हैं। ऐसा कथन करनेवाली श्रुति यह है :—

सर्वाङ्गं ये प्रपश्यन्ति ब्रह्मानन्दमजाक्षरम्।
एकमेवाऽद्वयं नित्यं निर्ऋतेस्ते शिरोगताः॥

यह अन्वय व्याप्ति प्रमाण के द्वारा प्रमाणित किया गया, अर्थात् जो भगवान् की अर्चा पूजा करते हैं वे ही तरते हैं, अब व्यत्तिरेक दृष्टान्त द्वारा प्रमाणित किया जाता है कि—"जो भगवान् के भक्त नहीं हैं केवल वाक्य श्रवण आदि में ही चतुरता समझ रहे हैं उनके लिये प्रभु कालस्वरूप हैं। उनको पशुओं की तरह बाँध देते हैं। जिस प्रकार बँधे हुए पशु रम्भाते हैं किन्तु पशुघ्न उन्हें नहीं खोलते, बन्धनमुक्त नहीं करते। ठीक उसी प्रकार उन व्यक्तियों को प्रभु कड़े बन्धन में जकड़े रखते हैं, जो अपने को केवल वेदवाक्य उच्चारण में कुशल समझकर ज्ञान

सुरादिकांस्तन्मनसो जगदपुनन् शुचयो न परे" इत्यादि ननु तर्हि "श्रोतव्य" इत्यादि श्रुतेर्वैयर्थ्यापत्तिरिति चेन्न श्रुत्वाऽपि भगवत्पराङ्मुखस्य तत्कृपाकटाक्षेणानवलोकितस्य भगवत्स्वरूपादिप्रकाशाभावेन संसारानिवृत्तेर्हेतोस्तत्रैव "निदिध्यासितव्य" इति वाक्यशेषे ध्यानविधानात् ।। श्रवणादेश्च ध्यानसाक्षित्वेन सार्थक्यमेव । अत्र तु "श्रृण्वन्तोऽपि बहवः" इत्यस्मिन्वाक्ये स्पष्ट एव कण्ठरवेण पठित इत्यर्थः एतदेव स्पष्टयति त्वयि कृतसौहृदाः ।। खल्विति अवधारणे पुनन्ति । ये विमुखाः श्रवणादिसाधनैर्लोकदृष्टौ युक्ता अपि न पुनंति आत्मानं, कुतोऽन्यमिति,

---

के मद में ही मत्त रहते हैं। इस विषय को "वयति गा इव य सुरादिकान्० इत्यादि श्रुतियाँ स्पष्ट करती हैं।

यहाँ जिज्ञासा हो सकती है कि—"आत्मावाऽरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो०" इस श्रुति में जो श्रवण का विधान मिलता है, उसका बाध नहीं होगा क्या ? इस शंका का समाधान :—जो भगवद्विमुख हैं, प्रभु के कृपाकटाक्ष भाजन नहीं हैं उनके हृदय में प्रभु के स्वरूप का प्रकाश नहीं होता, इसलिये उनकी संसार से निवृत्ति नहीं हो पाती "श्रोतव्य०" उस श्रुति के अन्त में इसीलिये तो निदिध्यासितव्य पद से ध्यान का विधान किया गया है। इसलिये उस विधान में ध्यान ही मुख्य है, श्रवण तो एक प्रकार से शाक्षि रूप में हैं। यदि श्रवण से ही कार्य चल जाता तो श्रुति यह क्यों कहती—"श्रृण्वन्तोऽपि वहवो यन्नविदुः" अर्थात् बहुत से सुननेवाले समाप्त हो चुके, उन्हें केवल श्रवणमात्र से भगवत्साक्षात्कार नहीं हो सका। अतएव इस श्रुति में—"त्वयि कृत सौहृदाः" पद दिया गया है। खलु शब्द का तात्पर्य है "निश्चय" अर्थात् भगवद्भक्त निश्चित रूप से संसार-सिन्धु को तरते हैं, भगवद्विमुख चाहे कैसा ही वेदविदां वरिष्ठ भी क्यों न हो नहीं तर सकता।

अनेन भगवत्प्रसादस्य निरपेक्षत्वं तदन्यसाधनजातस्य तत्प्रसादसापेक्षत्वं च दर्शितं मन्तव्यम् ।। आह च सर्वज्ञो भगवान्सनत्सुजातः "नैनं सामान्यृचो वापि न यजूंष्यविचक्षणं। त्रायंते कर्मणः पापान्न ते मिथ्या ब्रवीम्यहम् ।।१।। न छंदांसि वृजिनात्तारयन्ति मायाविनं मायया वर्त्तमानं। नीडं शकुंता इव जातपक्षाः छंदांस्येनं प्रजहन्त्यंतकाले ।।२।। अविचक्षणं वाक्यार्थादौ कुशलमपि भगवत्पराङ्मुखम् । "एषां बुद्धिमतां बुद्धिर्मनीषा च मनीषिणां। यत्सत्यमनृते नेह मर्त्यनाप्नोति मामृतम् । व्यवसायात्मिका बुद्धिरेकेह कुरुनंदने"त्यादि भगवदुक्ते प्रज्ञाहीनम् अतएव मायाविनं भगवति कपटाचारिणं ममाविद्याकल्पितो नियंता भगवानीश्वरः नतु वस्तुतो मदन्योऽस्ति किंचाहमेवेश्वर इति निष्ठा लक्षणा माया विद्यते यस्य तं। तथा च श्रीभगवानाह स्वयमेव "असत्यमप्रतिष्ठं ते जगदाहुरनीश्वरम् ईश्वरोऽहमहं भोगी सिद्धोऽहं बलवान् सुखीत्यादिना एवं भूतस्वतन्त्रवादिनं वेदचतुष्टयवाक्यानि नहि पुनन्ति। अर्थवादशंकां निरासयति :—नते मिथ्येति ।। किंतु अंतकाले प्राणत्यागसमये एवं वाक्यकौशल्यज्ञापकं त्यजन्ति तत्र दृष्टान्तः। नीडमित्यादीति स्मृत्यर्थः ।।२८।।

भगवत्कृपा निरपेक्ष है उसके अतिरिक्त अन्य सब साधन भगवत्कृपा की अपेक्षा रखते हैं। यह सर्वज्ञ भगवान् सनत्सुजात ने भी कहा है कि मैं सत्य कह रहा हूँ—मायावी प्राणियों की साम ऋग् यजु रक्षा नहीं कर सकते, न पापों से छुटकारा दिला सकते। जब मायावी व्यक्तियों पर आपत्ति आती है तब उनके वे कण्ठस्थ किये हुए वेद मन्त्र ऐसे उड़ जाते हैं जैसे पंख आ जाने पर वृक्ष के नीड (घोंसले) से पक्षियों के बच्चे निकल कर उड़ जाते हैं। जो वेद वाक्यों के पढ़ने और विचारने में कुशल होते

त्वमकरणः स्वराडखिलकारकशक्तिधर
स्त्वयि बलिमुद्वहन्ति समदंत्यजयाऽनिमिषाः ।
वर्षभुजोऽखिलक्षितिपतेरिव विश्वसृजो
विदधति यत्र ते त्वधिकृता भवतश्चकिताः ॥२९॥

अन्वय—हे भगवन् त्वं अकरणः, स्वराट् च अखिल कारक-शक्तिधरः हे अजय ! अनिमिषा विश्वसृजः अजया (सह) तव बलि उद्वहन्ति समदन्ति अखिलक्षितिपतेः वर्षभुजः इव ये तु तत्र अधिकृताः भवतः चकिताः विदधति ।

तव परिचारका मृत्युं तरंतीत्युक्तम् इदानीं भगवतः करणपारतंत्र्यशून्यत्वं स्वाभाविकशक्तिमत्वं सर्वनियंतृत्वं चाह त्वमकरण इति त्वं पूर्वोक्तलक्षणसर्वकारणभूतैः करणैर्मायाकार्यैः प्राकृतैः शून्यः तथा च श्रुतिः "अपाणिपादो जवनो गृहीता पश्यत्यचक्षुः स श्रृणोत्यकर्णः । सवेत्ति वेद्यं न च तस्यास्ति वेत्ता तमाहुराद्यं पुरुषं पुराणमि"ति । स्वराट् स्वैः स्वाभाविकैः शक्ति-

---

हुए भी भगवान् से विमुख हो, ऐसे मायावी व्यक्ति को श्रीसनत्सुजात ने अविचक्षण कहा है ॥२८॥

हे प्रभो ! आपकी परिचर्या आराधना (उपासना) करने-वाले ही संसार समुद्र से तर सकते हैं, यह पूर्व श्रुतियों में कहा गया है। अब यह श्रुति भगवान् की स्वाभाविक शक्तिमत्ता, सर्वनियन्तृता का वर्णन करती है और उन्हें किसी भी मायिक करण (साधन) की अपेक्षा नहीं रहती, जैसा कि—"अपाणिपादो जवनोग्रहीता" इत्यादि अन्य श्रुतियाँ प्रतिपादन करती हैं। वह प्रभुः सबको जानता है, किन्तु उनको कोई सहज में ही नहीं जान पाता। वह अपने ज्ञान शक्ति आनन्द आदि स्वाभाविक

ज्ञानानंदादिभिर्गुणै राजते इति स्वराट् ॥ "स्वाभाविकी ज्ञान-बलक्रिया च । विश्वतश्चक्षुरुत विश्वतो मुखो बाहुरुत विश्व-तस्पादि"त्यादि श्रुतेः तत्र हेतुगर्भितविशेषणम् अखिलकारक-शक्तिधरः अखिलस्य क्षेत्रज्ञजातस्य कारकाणां शक्ति धारयति प्रवर्त्तयतीति तथा ॥ "सर्वेन्द्रियगुणा भासं सर्वेन्द्रियविवर्जितं । सर्वस्यप्रभुमीशानं, सर्वस्य शरणं सुहृत् । वशी सर्वस्य लोकस्य स्थावरस्य चरस्यचे" त्यादि श्रुतेः । हे अजय कैश्चिदपि भक्ति-पराङ् मुखैः साधनैस्तत्संपन्नैः साधकैर्वा न जीयते इति तथा ॥ "नाहं वेदैर्नतपसा, भक्त्यात्वनन्यया शक्य" इत्यन्वयव्यतिरेक-मुखेन भगवदुक्तेः, अनिमिषा इन्द्रादयः तेषामपि पूज्या विश्व-

---

गुणों से सुशोभित हैं। अतएव उन्हें स्वराट कहा जाता है। इसी आशय को प्रकट करने के लिये हेतुगर्भित यह "अखिलकारक शक्तिधरः" विशेषण दिया जाता है। अर्थात् वह पमेश्वर जीव-मात्र के समस्त कारकों की शक्ति को धारण करता है। उन समस्त जीवों से भी वे ही अपने अपने करणों (इन्द्रियों) द्वारा कार्य करवाते हैं। इस कथन की निम्नांकित पौराणिक प्रमाण ही पुष्टि करते हैं :—

सर्वेन्द्रिय गुणाभासं सर्वेन्द्रिय विवर्जितम् ।
सर्वस्य प्रभु मीशानं सर्वस्य शरणं सुहृत् ।
वशी सर्वस्य लोकस्य स्थावरस्य चरस्य च ।

हे प्रभो ! आप अजय हैं किसी पराङ्मुख साधन सम्पन्न साधक से नहीं जीते जा सकते। यह स्वयं आपने भी कहा ही है, मैं वेदाध्ययन तपश्चर्य्या से उतना तुष्ट नहीं होता जितना अनन्य भक्ति से होता हूँ।

भगवान् केवल अनन्य भक्ति से ही जीते जा सकते हैं। इन्द्र आदि देव और उनमें भी विशिष्ट ब्रह्मा शंकर आदि ये सब

सृजो ब्रह्मादयः तव बलिमुद्वहन्ति तेऽपि प्रजया दत्तं भागं स्वयमदन्ति ।। तथा च श्रुतिः ।। "स एक ईशः परिपूर्णशक्तिः बलिहरा इतरे स्युः सुखिन" इत्यादि, तत्र दृष्टान्तः अखिलक्षितिपतेश्चक्रवर्त्तिनो वर्षभुजः मण्डलेश्वरा इव खण्डाधीशाः सार्वभौमस्य यद्ब्रह्मेशाद्याः कुर्वते तेऽनुशास्ति त्वं मुक्तिदो बंधदोऽतो मतो न त्वं मुक्तिदोऽज्ञानदश्चासि विष्णो" इति श्रुतेः । बलिवहनप्रकारमाह :—यत्र यस्मिन्नधिकारे भवताऽधिकृतास्तदेव विदधति संपादयन्ति । तत्रापि न तेषां स्वातन्त्र्यमित्याह—भवतश्चकिता भीताः सन्तस्तव नियोगं पालयन्तीत्यर्थः ।।२९।।

स्थिरचरजातयः स्युरजयोत्थनिमित्तयुजो
विहर उदीक्षया यदि परस्य विमुक्त ततः ।
नहि परमस्य कश्चिदपरो न परश्च भवे-
द्वियत इवापदस्य तव शून्यतुलां दधतः ।।३०।।

आपकी सेवा करते हैं और भेट सर्मपित करते हैं। प्रजा द्वारा जो उनको अर्पित किया जाता है उसे वे भी भोगते हैं। इस आशय को "स एक ईशः परिपूर्णशक्तिः, वलि हरा इतरे स्युः सुखिन" यहाँ यह दृष्टान्त लिया जा सकता है कि—जिस प्रकार चक्रवर्ती नृप का दिया हुआ कोई मण्डलेश्वर कृपा प्रसाद प्राप्त करता है, उसी प्रकार परमात्मा का ही कृपाप्रसाद इन्द्र, ब्रह्मा, शंकर आदि देवों को प्राप्त होता रहता है। हे प्रभो! जिन-जिन अधिकारों पर आपने उन देवों को नियत कर रक्खा है, उन अधिकारों के अनुसार भी कार्य करने में वे स्वतन्त्र नहीं हैं अपितु आपके भय से ही चकित होकर वे आपकी आज्ञा का पालन करते रहते हैं ।।२९।।]

अन्वय—हे विमुक्त ! यदि अजया तव उदीक्षया विहरः "तर्हि" स्थिरचरजातयः स्युः परस्य उत्थनिमित्तयुजः परमस्य कश्चित् परः अपरः न भवेत् । वियतः इव "तथा" शून्यतुलां दधतः (तव न वैषम्य नैर्घृण्ये) ।

भगवतः करणापारतन्त्र्यादीनुक्त्वा भोक्तृभोग्यात्मकस्यकृत्स्नस्य जगतः कारणत्वमपि तस्यैवेत्याहुः ।। स्थिरचरेति । हेविमुक्त नित्यमुक्त यदि यत्र सृष्टिसमयेऽजया मायया सह तव उदीक्षया ईक्षणेनैव कृत्वा विहरः क्रीडा स्यात् "तदैक्षत बहु स्यामि" त्यादिश्रुतेः । तत ईक्षणत एव हेतोः स्थिरचरजातयः स्युर्भवेयुः स्थावरजंगमा जायंत इत्यर्थः । मायासम्बन्धवारणार्थं विशिनष्टि :—परस्य क्षराक्षराभ्यामुत्कृष्टस्यासंगस्येत्यर्थः "अक्षरात्परतः पर" इतिश्रुतेः । वैषम्यं वारयति । उत्थनिमित्तयुज

पूर्व श्रुति द्वारा भगवान् में करण पारतन्त्र्य का निषेध किया गया, अब भोक्ता भोग्यरूप समस्त जगत के कारण वे ही हैं इस आशय का वर्णन इस श्रुति द्वारा किया जाता है :—

हे विमुक्त यदि सृष्टि के समय माया के साथ आप ईक्षण (बहुभवन रूप संकल्प) के द्वारा इस जगत् की उत्पत्तिरूप क्रीडा-विहार करते हो जैसा कि—"तदैक्षत" इत्यादि श्रुतियाँ कहती हैं—उक्त ईक्षणरूप हेतु से ही स्थावर जंगमरूप जगत् उत्पन्न होता है। परन्तु आपका माया से कोई संश्लेष नहीं है, अर्थात् उस माया में आप लिप्त नहीं हैं इसी आशय को प्रकट करने के लिये श्रुति में "परस्य" यह विशेषण दिया गया है। आप क्षर और अक्षर (प्रकृति माया और जीव) से उत्कृष्ट (ऊपर) असंग निर्लिप्त हैं। यदि समस्त संसार के निर्माता परमात्मा ही हैं। तब किसी जीव का दुःखी होना और किसी का सुखी होना ऐसा वैषम्य क्यों होता है? इस जिज्ञासा के समाधान के लिये जीवों को उत्त्थ

आविर्भूतैर्निमित्तैरनादिकर्मसंस्कारादिभिर्युक्ताः कर्मसापेक्षमेव तेषां जन्म तव भवत ईक्षणं चेत्यर्थः। किं कर्मपारतन्त्र्यं ममेति चेन्न, परमस्य परान् कर्मादीन् मातीति तथा, तस्य स्वतन्त्रस्य। "सर्वस्य वशी सर्वस्येशानः संसारबन्धस्थिति मोक्षहेतुः॥ न तस्य कश्चिज्जनिता न चाधिपः, देवस्यैष महिमा तु लोके येनेदं भ्राम्यते ब्रह्मचक्रमि" त्यादि श्रुतेः। एवंभूतस्य तव पर उत्कृष्टोऽपरो निकृष्टश्च न भवेत्। वियत इव ब्राह्मणचांडालयोर्बाह्याभ्यन्तरे वर्त्तमानस्याप्याकाशस्य यथा न तयोरुत्कर्षापकर्षाभ्यां

निमित्तयुजः बतलाया है। इसका तात्पर्य है कि जीव अनादि कर्म संस्कारों के अनुसार सुखी-दुःखी होते हैं। उनके कर्मों के अनुसार ही उनको विभिन्न योनियों के विभिन्न प्रकार के शरीर मिलते हैं। इक्षण भी उनके कर्मों के अनुसार ही होता है। यहाँ कदाचित् भगवान् ही श्रुति से पूछ बैठें कि क्या आप मुझे उनके कर्मों के आधीन मानती हो? इसका श्रुति द्वारा उत्तर दिया जाता है—नहीं। आप तो परम हैं जीवों के समस्त कर्मों के भी तो आप ही आधार हैं, अतः आप स्वतन्त्र हैं। सब कुछ आपके वशीभूत है, आप ही सबके शासक हैं, सृष्टि और जीवों की बद्धता और माया के बन्धन से उन्हें मुक्त कर देने और उनको यथास्थान रखने में आप स्वतन्त्र कारण हैं। आपका न कोई कारण है न शासक अधिपति। आपकी बहुत बड़ी महिमा है, जिससे यह ब्रह्म चक्र भ्रमण कर रहा है, ऐसे आशय को श्रुतियाँ पुष्ट करती हैं। इसलिये यही मानना चाहिये कि आप से पर (उत्कृष्ट) कोई नहीं है, आप ही जब बहुभवनरूप संकल्प से प्रसारित होते हैं तब आप से निकृष्ट भी किसे कहैं सब कुछ आप ही तो हैं। यहाँ आकाश का और मेघ का उदाहरण लिया जा सकता है—जिस प्रकार ब्राह्मण और चांडाल का भेद आकाश नहीं

सम्बन्धस्तद्वत्तथापि। यथा मेघो वर्षन् उत्कर्षापकर्षबीजानुसारेणांकुरमुत्पादयन्न वैषम्यं भजते, तथा तत्तत्कर्मानुसारेण तेषां कर्मफलात्मकजन्मादिभोगदाने तवापि न वैषम्यमित्यर्थः। अनेन "फलमत उपपत्ते" रित्यधिकरणं व्याख्यातम्। दृष्टान्तसाम्ये विशेषणम्। अपदस्य इयत्ताज्ञानाऽविषयस्य। तत्र हेतुः। शून्यतुलां दधतः। निरतिशयसूक्ष्मस्येत्यर्थः। "अणोरणीयानि"ति श्रुतेः॥३०॥

अपरिमिता ध्रुवास्तनुभृतो यदि सर्वगता-
स्तर्हि न शास्यतेति नियमो ध्रुव[1] नेतरथा

रखता वह सबके बाहर भीतर रहता है, उसी प्रकार मेघ भी सर्वत्र समान रूप से ही वृष्टि करता है किन्तु बीजों के अनुसार वनस्पति औषधि आदि में विभिन्न प्रकार के अंकुर उद्भूत होते हैं। आकाश और मेघ में जिस प्रकार की विषमता नहीं मानी जाती उसी प्रकार हे प्रभो! आप में भी किसी प्रकार की विषमता नहीं है। तत्तत् जीवों के कर्मानुसार ही उनको आप सुख-दुखादि फल प्रदान करते हो। इस श्रुति से "फलमत उपपत्तेः" यह ब्र०सू० ३।२।३७ फलाधिकरण का तात्पर्य भी प्रदर्शित हो गया है।

दृष्टान्त की समता के लिये ही अपदस्य यह विशेषण दिया गया है। उसका तात्पर्य है आपकी महिमा की इयत्ता अर्थात् इति श्री नहीं होती क्योंकि वह अपार है। इसी आशय की पुष्टि "शून्य तुलादधतः" इस पद से की गई है, अर्थात् आपकी महिमा की इति के विषय में शून्य तुला है अर्थात् उसकी इति है ही नहीं, आपकी महिमा अपार है। आप और आपकी महिमा ऊँची से ऊँची और सूक्ष्म से भी सूक्ष्म है॥३०॥

---

१. अणुत्वे सति शासनं स्यात्।

अजनि च यन्मयं तदविमुच्य नियन्तृ भवेत्
सममनुजानतां यदमतं मतदुष्टतया ।।३१।।

अन्वय—हे ध्रुव ! तनुभृतः ध्रुवाः यदि सर्वगताः तर्हि (तव) शास्यता इति नियमो न यन्मयं अजनि च तत् अविमुच्य नियन्तृ भवेत् यत् समं अनुजानतां अमतम् मतदुष्टतया (तन्निदितम्)।

इदानीं विज्ञानात्मनः संख्यापरिमाणयोर्विवादं परिहरन्ति श्रुतयः ।। अपरिमिता इति । हे ध्रुव शाश्वत षाड्गुण्यशक्त तनुभृतोऽपरिमिता अनंता असंख्याकाः अनेनैकजीववादिमुखं पिधीयते । न त्वौपाधिकभेदेन व्यवहारेऽनेकत्वमिष्टमेवेति चेत्तत्राहुः ।। ध्रुवा इति ।। स्वाभाविकाल्पज्ञत्वादि धर्मवन्तोऽनाद्यनन्ताः । अनेनौपाधिकभेदवादिनो जिह्वा त्रोटिता "तथा श्रुतयः ।।" ज्ञाज्ञौ द्वावजावीशानीशौ, अजो ह्येको जुषमाणोऽनुशेते, जहात्येनां भुक्तभोगामजोऽन्यः, नित्यो नित्यानां चेतन-

---

अब यहाँ जीवों की संख्या और परिणाम विषयक विवाद का निराकरण करती हैं श्रुतियाँ,—हे ध्रुव ! शाश्वत षाड्गुण्ययुक्त शक्तिमान्, तनुभृत् देहधारी जीव जो अनन्त है, जिनकी संख्या अपार है। इस कथन के द्वारा एक जीववाद वालों का मुख बन्द किया गया है। यदि एक जीववादी कहें कि जीव को हम मानते तो हैं एक ही, परन्तु औपाधिक भेद स्वीकार करके जीवों में हम अनेकता मान लेते हैं। इस पर श्रुति कहती हैं कि—ध्रुवाः अर्थात् जीवों में अल्पज्ञता अनादिता और अनन्तता—ये सब स्वाभाविक हैं, इस कथन के द्वारा औपाधिक भेद माननेवालों की बोलती बन्द की गई है। क्योंकि—"ज्ञाज्ञौद्वावजा" इत्यादि श्रुतियाँ जीवों की अनेकता स्वाभाविक बतलाती हैं। संख्या-सम्बन्धी विवाद का निराकरण करके अब परिमाण विषयक

श्चेतनानामेको बहूनामित्यादयः "अंशो नानाव्यपदेशादि" त्यादिन्यायश्च । संख्याविवादं निरस्य परिमाणं निर्धारयन्त्यः सांख्यनैयायिकादीनां विभुपरिमाणवादिनां वक्त्रं धूलीकुर्वन्ति श्रुतयः । यदि सर्वगता इति । यदि विभुपरिमाणकाः स्युः, तर्हि तव शास्यतेति नियमः शासनं नियमनं न स्यात् "अन्तः प्रविष्टः शास्ता जनानां, य आत्मनि तिष्ठन्नात्मनोऽन्तरो यमात्मा न वेद यस्यात्मा शरीरं य आत्मानमन्तरो यमयत्येष त आत्मान्तर्याम्यमृत" इत्यादि नियमो नश्येत इत्यर्थः । इतरथाऽणुपरिमाणकत्वे तु समञ्जसं, तथाहि ।। अणुर्ह्येष आत्मा चेतसा वेदितव्यः, बालाग्रशतभागस्य शतधा कल्पितस्य च । भागो जीवः स विज्ञेयः स चानन्त्याय कल्पते । ननु तर्हि तव देहव्यापि चैतन्यं न स्यात् ? नतरां शिरःपादादिगतसुखाद्यनुभव इति चेन्न साधा-

---

विवाद का निराकरण करके सांख्यनैययायिक आदि विभुवाद को स्वीकृत करनेवालों पर धूलिक्षेप किया जाता है।

यदि जीव विभु परिमाणवाले माने जायें तो परमात्मा द्वारा उन्हें शासन और नियमन में रखने की बातें कहनेवाली श्रुतियों का बाध होगा। य आत्मनि तिष्ठन्० इत्यादि श्रुतियों द्वारा जो परमात्मा द्वारा जीवों के नियन्त्रण की चर्चा है वह नियमन नहीं बनेगा।

अणु परिमाण मानने से उपर्युक्त सभी आपत्तियाँ दूर हो जाती हैं। "अणुर्ह्येष आत्मा०" "बालाग्रशतभागस्य०" इत्यादि श्रुतियाँ स्पष्टरूप से जीवों का परिमाण अणु बतलाती हैं।

यहाँ यह शङ्का हो सकती है कि जीव का अणु परिमाण मानने पर पूरे शरीर के सुख-दुःखों की अनुभूति नहीं हो सकेगी, इस शङ्का का समाधान किया जाता है कि जीव का स्वरूप तो

रणधर्मभूतज्ञानव्याप्त्या न विरोधावकाशः। नच प्रकाशस्याश्रयं विहायाऽन्यत्र गमनासंभव इति वाच्यं, प्रदीपप्रभायाः प्रदीपं विना, वह्निं विनौष्ण्यादेः, पुष्पादिं विना गंधादेः, धर्मिणं बिना जातिसमवायादेर्वर्त्तमानस्य सुप्रसिद्धत्वात् नात्र तर्कमात्रस्य प्रमाणत्वम् अपितु श्रुतिरपि "अणुनश्चक्षुषः प्रकाशो व्याप्त एवमेवास्य पुरुषस्य प्रकाशो व्याप्तः, व्याप्तोवैंपुरुष" इत्यादि दृष्टान्तसहकृतभगवद्वाक्यमपि "यथा प्रकाशयत्येकः कृत्स्नं लोकमिमं रविः क्षेत्रं क्षेत्री तथा कृत्स्नं प्रकाशयति भारते"ति, मणिद्युमण्यादौ परिच्छिन्नेऽपि विभुपरिमाणकप्रभालक्षणगुण-

---

अणु परिमाणवाला ही है किन्तु उसका धर्मभूत ज्ञान विभु है उससे पूरे शरीर के सुख-दुःखों की अनुभूति होने में कोई अडचन नहीं होती। आश्रय (दीप) की परिधि को छोड़कर दूर-दूर तक भी प्रकाश जा सकता है। आग जलती है दूर और उसकी गर्मी दूर-दूर जा पहुँचती है, इसी प्रकार पुष्प कहाँ पड़ा रहता है और उसकी गन्ध दूर-दूर तक महकती रहती है। गोत्व आदि जातियाँ और समवाय आदि सम्बन्ध धर्मी से बहुत दूर अर्थात् धर्मी को छोड़कर भी रहते हैं, ऐसी सुप्रसिद्धि है। हमारे इस कथन में केवल तर्कमात्र ही नहीं "अणुनश्चक्षुष०" इत्यादि श्रुतियाँ भी प्रमाणरूप हैं। भगवान् ने स्वयं दृष्टान्त सहित गीता में उद्घोषित किया है—यथा "प्रकाशयत्येकः०" गीता० अ० १३।३३ अर्थात् जिस प्रकार आकाश में स्थित सूर्य समस्त लोक को प्रकाशित करता रहता है, उसी प्रकार हृदय में स्थित रहनेवाला जीव पूरे शरीर के सुख-दुःखों का अनुभव करता रहता है। मणि और सूर्य चाहे कहीं भी रहें उनका प्रकाश उनसे बहुत दूर तक चला जाता है। ऐसा सभी प्रत्यक्ष अनुभव करते हैं।

यदि कोई यह शङ्का करे कि मणि आदि के अवयव ही

वत्त्वस्य प्रत्यक्षप्रमाणगोचरत्वात्। न च मण्यादीनामवयवा एव प्रभात्वेनोच्यन्त इति शंकनीयं, तथात्वे द्रव्यनाशप्रसंगात्, तथा च वाल्मीकिनाऽपि प्रभाप्रभावतोर्भेदो दर्शितः "रामेण संगता सीता भास्करेण प्रभा यथे"ति सुन्दरकांडे। एतच्च सिद्धान्तजाह्नव्यां विस्तृतं व्याख्यातं भगवच्चरणैर्देवाचार्य्यैः। एतदेव स्पष्टयति यन्मयं यद्विकारं अजनि तत्कारणत्वम् अविमुच्य नियंतृ भवेदिति व्याप्तिः किं तन्नियंतृस्वरूपम्? तत्राह समं सर्वस्य ब्रह्मादि स्थावरान्तस्यान्तर्यामित्वेऽपि अप्रच्युतषाड्गुण्यम्, तर्हि बहिरभावत्वादियत्तायुक्तमिति चेत्तत्राहुः अनुजानतां ज्ञानाभिमानिनां भगवतः स्वरूपगुणशक्त्यादिषु तर्कबलेनेयत्तापरिभाव्य-

---

दूर-दूर तक जाते हैं तो ठीक नहीं क्योंकि ऐसा मानने पर (अवयवों को दूर-दूर तक चले जाने की कल्पना पर) वह अवयवी द्रव्य ही विनष्ट हो जायेगा। वाल्मीकिजी ने प्रभा और प्रभावान् इन दोनों में स्पष्ट रूप से विभेद बतलाया है।

"रामेण संगता सीता भाष्करेण प्रभा यथा।" सुन्दरकाण्ड इस विषय पर ब्रह्मसूत्रों की सिद्धान्तजाह्नवी टीका में टीकाकार श्रीदेवाचार्यजी ने विशद रूप से लिखा है। जैसा कि इस श्रुति का "यन्मयं-अजनि, यत्कारणत्वमविविमुच्य नियन्तृ भवेद्" उस नियन्ता का स्वरूप भी यहाँ ही बतला दिया है—"समं सर्वस्य" वह परमात्मा सर्वत्र समानरूप से विद्यमान है। अन्तर्यामी रूप से सर्वत्र रहते हुए भी उनके षाड्गुण्य में न्यूनता नहीं आती। यदि कोई शङ्का करे कि भगवान् सबके अन्दर ही रहते हैं बाहर नहीं रहते? इसका यही उत्तर है कि जो भगवान् और उनके गुणों में इयत्ता समझते हों वे कुछ नहीं जानते। क्योंकि भगवान् और भगवान् के गुणों में इयत्ता समझनेवालों के मत को दुष्ट मत बतलाया है। श्रुति भी यही कहती है कि जो यह मान बैठा

मानानाममतम् अज्ञातम् कुतः ? मतदुष्टतया मतस्य इयत्ता ज्ञानस्य ज्ञातुर्वा दोषश्रवणेन तथाहि "यस्यामतं मतं तस्य मतं यस्य न वेद सः । अविज्ञातं विजानतां विज्ञातमविजानतामित्यादि श्रुतयः ॥३१॥

न घटत उद्भवः प्रकृतिपूरुषयोरजयो-
रुभययुजा भवंत्यसुभृतो जलवुद्वुदवत् ।
त्वयि त इमे ततो विविधनामगुणैः परमे
सरित इवार्णवे मधुनि लिल्युरशेषरसाः ॥३२॥

अन्वय—अजयोः प्रकृतिपूरुषयोः उद्भवः न घटते उभययुजाः असुभृतः भवन्ति जलवुद्वुदवत् इमे विविधनामगुणैः अर्णवे सरितः मधुनि अशेषरसा इव त्वयि परमे लिल्युः ।

ननुध्रुवाइत्यादिनाऽनाद्यनन्तत्वे प्रतिपाद्यते स्थिरचरजातयः स्युरित्यादिना जन्माप्युक्तमेव उभयथात्वाभ्युपगमे वदतोव्याघातः स्यात्, न केवलमेतावदेवदूषणं किन्तु जन्मांगी-

---

है कि मैंने परमात्मा को जान लिया वह कुछ भी नहीं जान सका है, और जो यह समझता है कि परमात्मा और उनकी महत्ता आदि गुण अनन्त अपार हैं, मैं नहीं जान सका हूँ ऐसी समझ- वाला व्यक्ति वस्तुतः परमात्मा को बहुत कुछ जानता है ॥३१॥

यहाँ जिज्ञासा होती है कि—"अपरिमिता ध्रुवाः" यह श्रुति तो जीवों के अनादित्व और अनन्तत्व का प्रतिपादन करती है, और "स्थिरचर जातयः" इस श्रुति ने उनके जन्म होने का भी प्रतिपादन किया है। यदि ये दोनों बातें मानी जायें तो दोनों ही कथनों की मान्यता नहीं रहेगी। यह एक प्रकार का वदतो व्याघात दोष कहाता है। केवल इतना ही दोष नहीं यदि जीवों

कारेऽजत्वनाशेन कृतनाशाकृताभ्यागमप्रसंगोऽपीति चेन्न भगवतोंऽशभूतानां क्षेत्रज्ञानामनाद्यनंतत्वेपि देहजन्मना जन्मोक्तेरप्य विरुद्धत्वादित्याहुः । न घटत इत्यादि प्रकृतिपूरुषयोरुद्भवो जन्म न घटते न सम्भवति, कुतः अजयोरुभयोरजत्वादित्यर्थः "अजामेकां लोहितशुक्लकृष्णां बह्वीं प्रजां जनयन्तीं सरूपाम् अजो ह्येको जुषमाणोऽनुशेते जहात्येनां भुक्तभोगामजोऽन्य" इत्यादि श्रुतेः । तर्हि 'तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः संभूतः' इत्यादिना "यथाऽग्नेः क्षुद्रा विस्फुलिंगा व्युच्चरंत्येवमेवास्मादात्मनः सर्वे प्राणाः सर्वे लोकाः सर्वे देवाः सर्वाणि भूतानि सर्वे एव एतदात्मनोव्युच्चरन्ती" इत्यादिना च कथमुभयोरपि जन्मोक्तिरत आहुः ॥ उभययुजेति ॥ उभयस्थानादि सिद्धलिङ्गेन प्रत्यक्चेतनस्य योगेन हेतुनाऽसुभृतो भवन्ति, स्थूलशरीरयोग एव जन्म-

---

की उत्पत्ति मानी जायेगी तो कृतनाश और अकृताऽभ्यागम ये दो दोष और भी उद्यत होंगे।

इस शंका का समाधान यह है कि जीव भगवान् के अंश होने से वास्तव में ये अनादि और अनन्त ही हैं। इनके जन्म होने की बात तो केवल स्थूल देह प्राप्ति की दृष्टि से कही जाती है। क्योंकि प्रकृति और पुरुष दोनों ही अज (अजन्मा) हैं। इनका जन्म होता ही नहीं। इसी आशय का प्रतिपादन "अजामेकां०" इत्यादि श्रुतियाँ करती हैं।

जिज्ञासु कहता है :—ठीक है। किन्तु "तस्माद्वा एतस्मादात्मनः आकाशः सम्भूतः" इत्यादि श्रुतियाँ इन दोनों (प्रकृति पुरुषों) का जन्म होना भी तो कहती हैं। इस असमंजस का यहाँ "उभययुजाः" पद से सामंजस्य किया गया है।

तात्पर्य यह है कि जीव और प्रकृति के योग से पूर्वसिद्ध लिंगशरीर चेतन योग हेतु द्वारा प्राणी प्रकट होते हैं अर्थात्

न्युपचर्यंत इत्यर्थः, तत्र दृष्टान्तः ।। जलवुद्वुदवत् ।। यथा जलमात्रस्य न बुद्वुदरूपेण जन्म किंतु वायुसंयोगादेव बुद्वुदा भवन्ति तद्वदत्रापि जीवात्मनो जन्माभावेऽपि देहयोगाज्जन्मोक्तिरिति भावः । किं च कर्मात्मिकाऽविद्यानिवृत्त्या पुनरपि भगवत्प्राप्तिरित्याहुः त्वयि सर्वज्ञे सर्वशक्तौभगवति इमे तनुभृतः जडवर्गाश्चाकाशादयः विविधनामगुणैः सद्देवदत्तादिनामानि गुणा वर्णाश्रमधर्माः शमोदमस्तपः शौचमित्यादिनाऽष्टादशाध्यायेभगवतोक्तास्तैः सह लिल्युः पृथक्त्वेऽपि पृथग्ग्रहणानर्हतां प्रापुरित्यर्थः । तत्र दृष्टान्तः–सरित इवार्णव अशेषरसा इव मधुनि यथा सरितः समुद्रं प्राप्य पृथग्ग्रहणानर्हास्तिष्ठन्ति, यथा चाशेषवृक्षाणां रसाः मधु प्राप्य तथैव तिष्ठन्ति तथा तनुभृतोऽपि

सूक्ष्मशरीरयुक्त जीवों का स्थूल शरीर के साथ प्रकट होना ही जन्म कहलाता है । यह एक उपलक्षणमात्र है । यहाँ जल में उठनेवाले बुद्बुदों का दृष्टान्त समझना चाहिये, जिस प्रकार केवल जल का बुद्बुदा न उठकर वायु के संयोग से उठता है, उसी प्रकार केवल आत्मा का जन्म न होकर अनादि कर्मों के अनुसार सूक्ष्मशरीरयुक्त जीव स्थूल शरीरयुक्त रूप से अभिव्यक्त होते हैं । फिर जब वह कर्मात्मिका अविद्या निवृत्त हो जाती हैं तब उन जीवों को भगवत्प्राप्ति हो जाती है, जीवों की ही क्या आकाश आदि भी लीन होते हैं । देवदत्तादि नाम वर्णाश्रम आदि धर्म, शमदमादि गुण जो कि गीता के अठारहवें अध्याय में कहे गये हैं । उन सब के साथ भगवान् में लीन हो जाते हैं । यहाँ यह दृष्टान्त समझना चाहिये कि जिस प्रकार नदियाँ समुद्र में मिलती हैं एवं विभिन्न विभिन्न पुष्पों के रस मधु में सन्निहित हो जाते हैं, उसी प्रकार चराचरात्मक (जड़चेतनात्मक) यह विश्व प्रभु में लीन होता है । इस लय को सर्वथा अभेद नहीं समझना

भगवन्तं प्राप्य अत्यन्तं पृथग्ग्रहणानर्हतां भजंतीति भावः । ननु यदि पृथग्ग्रहोनास्ति तर्हि कुतोभेदसंभवनेति चेन्न मधुनि रसविशेषवैचित्र्यस्य दृश्यमाणत्वात् जलेऽपि जलान्तरसंयोगवृद्धिदर्शनात् । ननुसमुद्रे वृद्धिर्न दृश्यते इति चेत् सत्यं तस्य निरतिशयत्वेन नैव सामान्याद्वृद्धिदृश्यतेऽल्पे न जलेन तत्राप्यनुमानात्, समुद्रस्यापि अल्पजलानां तरङ्गात्मनाऽन्यत्र नदीषु संयुक्तानां रसभेदस्य वर्त्तमानत्वात् तथाहि श्रुतयः "यथा सौम्य मधुमधुकृतो निस्तिष्ठन्ति नानात्ययानां[1] वृक्षाणां रसान् समवहारमेकतां संगमयन्ति ते तथा न विवेकं लभन्ते अमुष्याहं वृक्षस्य रसो-

---

चाहिये, अपितु जिस प्रकार समुद्र में मिलनेवाली नदियों का नाम मिट जाता है । वह समुद्र ही कहलाता है किन्तु नदी जल और समुद्र में विभेद रहता ही है । नौका एवं जहाजों से समुद्रयात्रा करनेवालों को जहाँ नदियाँ समुद्र में मिलकर प्रवाहित होती हैं तो यात्री उनका आचमन कर लेते हैं उस जल में मधुरता भी रहती है । इसी प्रकार मधु में सब रसों के मिल जाने पर भी विभिन्न रसों की अनुभूति होती ही है ।

यदि कोई यह कहे कि थोड़े बहुत जल में मिलने से तो उस जल की अभिवृद्धि ज्ञात हो सकती है, लेकिन अपार समुद्र में मिले हुए जल की अभिवृद्धि अवगत नहीं हो सकती । इस तर्क का यही उत्तर है कि स्वल्प खारे जल में खारा या मीठा जल मिलाने से उसकी अभिवृद्धि का प्रत्यक्ष ज्ञान हो सकता है, उसी ज्ञान के हेतुरूप से समुद्र जल की अभिवृद्धि का अनुमान किया जा सकता है । यथा—सोम्य मधु मधुकृतो निष् तिष्ठन्ति, नानात्ययानां वृक्षाणां० इत्यादि श्रुतियाँ भी इसी आशय की पुष्टि करती

---

१. नानागतीनां नानादिक्कालानाम् ।

ऽस्म्यमुष्याहं वृक्षस्य रसोऽस्मीत्येवं खलु सौम्येमाः सर्वाः प्रजाः सति सपद्य नविदुः कारणे सति संपद्यामह" इति "यथा नद्यः स्यंदमानाः समुद्रेऽस्तंगच्छन्ति नामरूपे विहाय तथा विद्वान्नाम-रूपाद्विमुक्तः परात्परं पुरुषमुपैति दिव्यमिति", अयमर्थः यथा-ऽशेषवृक्षाणां रसा मधु प्राप्य स्वनामरूपाभ्यां विमुक्ता मधुनो नामरूपे साधारणे भजन्ति यथा च नद्यः समुद्रे प्राप्य स्वनाम-रूपाभ्याम् अमुका नदी चर्मण्वतीत्यादिनाम नीलजलेत्यादिरूपं ताभ्यां विमुक्ता वियुक्ताः सत्यः समुद्रसाधारणनामरूपे भजंति तथा विद्वानपि स्वस्य देहाभिमतस्य नामरूपाभ्यां देवदत्तादि-देवतिर्यगादिभ्यां विमुक्तः भगवतो ब्रह्मणः साधारणनामरूपे "सत्यं ज्ञान"मिति श्रुत्युक्त सत्यं ज्ञानादि नाम "आदित्यवर्णं तमसः परस्तादि"त्यादिश्रुत्युक्ताऽप्राकृतरूपं च प्राप्नोतीत्यर्थः॥

हैं कि विभिन्न-विभिन्न पुष्पों के रस से बने हुए मधु में उन सब प्रकार के रसों के स्थित रहने पर भी उनमें इतनी घनिष्ट साम्यता आ जाती है, जिससे यह भासित नहीं हो पाता कि यह अमुक पुष्प का रस है, और यह अमुक पुष्प का रस है। भिन्न-भिन्न नामरूपों का एक ही नाम (मधु) और रूप हो जाता है। उसी प्रकार परमात्मा में लीन जीव आदि के विभेद का भान नहीं हो पाता। "तथा विद्वान्नाम रूपाद्विमुक्तः परात्परं पुरुष-मुपैति दिव्यम्" इस श्रुति का यही तात्पर्य है कि जैसे समुद्र में मिल जाने से गंगा यमुना चम्बल आदि नदियों के नामों का व्यवहार नहीं होता समुद्र नाम से ही व्यवहार होता है, उसी प्रकार देहादि अभिमत देवतिर्यङ् आदि के नाम रूप आदि का उल्लेख (शब्द प्रयोग रूप व्यवहार) न होकर साधारण सत्य ज्ञान आदि नामों का तथा आदित्य वर्णं, तमसः परस्तात् इत्यादि श्रुतियों में कहे हुए रूप का ही व्यवहार होता है। यही आशय

तदेवाह ॥ दिव्यमिति ॥ प्रकाशात्मकमित्यर्थः एतच्च प्रश्नो-पनिषदि स्पष्टमेव "यथा नद्यः स्यन्दमानाः समुद्रायणाः समुद्रं प्राप्यास्तं गच्छन्ति भिद्येते तासां नामरूपे समुद्र इत्येवोच्यते एवमेवास्य पुरुषस्य परिद्रष्टुरिमाः षोडशकलाः पुरुषायणाः पुरुषं प्राप्यास्तं गच्छन्ति भिद्येतेचाऽऽसां नामरूपे पुरुष एवोच्यते" इत्यादि। कथम्भूते त्वयि परमे परैर्वेदमन्त्रैर्मीयते इति परमस्त-स्मिन्, अनेन वेदस्यापि परमात्मज्ञानकारणत्वं व्याख्यातम्। एतेन जीवसाहचर्योक्तेन प्रकृतेरपि स्वरूपतोऽजत्वं कार्यात्मना प्रपंचरूपेण जन्मादिवत्त्वं ज्ञातव्यम् "अजामेकामि"त्युक्तत्वादिति भावः॥३२॥

यहाँ इस श्रुति में दिव्य शब्द से बतलाया गया है। ब्रह्मसंगत का प्रकाश रूप ही माना गया है। जो दृष्टान्त के साथ-साथ "यथा नद्य० स्यन्दमाना समुद्रायणाः समुद्रं प्राप्यास्तंगच्छन्ति भिद्येते तासां नामरूपे समुद्रइत्येवोच्यते। एवमेवाऽस्य पुरुषस्य परिद्रष्टु-रिमाषोडशकलाः पुरुषायणाः० पुरुषं प्राप्यऽस्तंगच्छन्ति। भिद्येते चास्यां नामरूपे पुरुष एव उच्यते।" इत्यादि श्रुतियों का यही भाव है कि—जीवों की सोलह कला पुरुष (परमात्मा) को प्राप्त कर लेने पर अस्त हो जाती है और वह फिर पुरुष कहलाने लगता है।

यहाँ परमात्मा को "त्वयि" परमे कहकर यह बतलाया गया है कि—परैः=वेदमंत्रैः—मीयते इति परमः तस्मिन्= परमे, इस प्रकार वेद को परमात्मा का ज्ञान होने में एक कारण बतलाया है। इस प्रकार अजन्मा प्रकृति का भी जीवों के सहयोग से प्रपञ्चरूप में आविर्भूत होना ही जन्म समझा जाता है। वस्तुतः वह भी अजा है। इस श्रुति का यही तात्पर्य है प्रकृति और जीव दोनों ही अज अर्थात् अजन्मा हैं॥३२॥

नृषु तव मायया भ्रममभीष्ववगत्य भृशं
त्वयि सुधियो भवे दधति भावमनुप्रभवम् ।
कथमनुवर्त्ततां भवभयं तव यद्भ्रुकुटिः
सृजति मुहुस्त्रिणेमिरभवच्छरणेषु भयम् ।।३३।।

अन्वय—अमीषु नृषु भृशं तव मायया भ्रमं अवगत्य सुधियः अभवे त्वयि अनुप्रभवं भावं दधति तव अनुवर्ततां भवभयं कथम् यत् त्रिणेमिः भृकुटिः अभवच्छरणेषु मुहुः भयं सृजति ।

भगवद्भजने सदाचारं प्रमाणयन्ति श्रुतयः ।। नृष्विति ।। अमीषु पाण्डित्याभिमानिषु स्वोत्प्रेक्षिततर्कनिष्ठेषु नृषु तथा मुण्डकश्रुतिः "अविद्यायां बहुधा वर्त्तमाना वयं कृतार्था इत्यभिमन्यन्ति बालाः" इत्यादि भृशंभ्रममवगत्य निश्चित्य सुधियो निर्मलमतयस्त्वयि भावं विदधति । श्रवणध्यानादिपूर्वकं प्रेम कुर्वन्ति ।। विश्वं धरं महाविष्णुं नारायणमनामयं । पूर्णानन्दैकविज्ञानं परं ज्योतिःस्वरूपिणम् । मनसा संस्मरन् ब्रह्मा तुष्टाव परमेश्वरमिति रामतापिन्युपनिषदि ।। यस्मात्स्वभक्तानां स्मृत एव मृत्युमपमृत्युं च मारयति तस्मादुच्यते मृत्युर्मृत्युरिति यं

भगवान् के भजन में सदाचारी ही प्रवृत्त हो सकते हैं। इस आशय को श्रुतियाँ प्रमाणित करती हैं—"नृषु" इत्यादि पदों से, जो पाण्डित्य के अभिमानी अपनी बुद्धि के अनुसार तर्क-वितर्क करनेवाले माया के जाल में फँसे हुए हैं वे भ्रान्त हैं, ऐसा निश्चय करके निर्मल बुद्धिवाले सज्जन हे प्रभो ! आपके चरणों में अपने मन को लगाते हैं । आपके गुण-गणों का श्रवणकर प्रेम से ध्यान करते हैं । इस आशय का "विश्वं धरं" इत्यादि रामतापिनी

सर्वे देवा आनमन्ति, मुमुक्षवो ब्रह्मवादिनश्चेत्यादिर्नृसिंहतापिन्यां, "सत्पुण्डरीकनयनं मेघाभं वैद्युतांबरं । द्विभुजं ज्ञानमुद्राढ्यं वनमालिनमीश्वरं । कालिन्दीजलकल्लोलसंगिमारुतसेवितं । चिन्तयंश्चेतसा कृष्णं मुक्तो भवति संसृतेरि"ति गोपालतापिन्युपनिषदि" कथंभूते त्वयि अभवे संसारनिवर्त्तके "संसारवन्धस्थितिमोक्षहेतुरि"ति श्रुतेः कथंभूते अनुप्रभवं निरन्तरं वर्द्धमानं यद्वा अनु अनंतरं भवतः प्रभवः प्रादुर्भावो यस्मात्तथा अचिरं त्वत्प्रापकमित्यर्थः । अतएव तवानुवर्त्ततां भजतां भवभयं कथं स्यान्न कथंचिदपीति युक्तमेवैतत् यतस्तव भ्रुकुटिः कालरूपा त्रिनेमिः अभवच्छरणेष्वेव न भवान् शरणं त्राताऽऽश्रयो वा येषां तेष्वेव तव पराङ्मुखेष्वेवान्ययोगव्यवच्छेदेऽवधारणशब्दः । भयं सृजति-

---

श्रुति, "यस्मात् स्वभक्तानां" इत्यादि नृसिंहतापिनी श्रुति और "सत्पुण्डरीकनयनं" इत्यादि गोपालतापिनी उपनित् की श्रुतियाँ प्रतिपादन करती हैं । आप अभव अर्थात् भव=संसार निवर्तक हैं और अनुप्रभव हैं अनुप्रभव का अर्थ निरन्तर वर्धमान अथवा अत्यन्त शीघ्र ही प्रकट होना है, अतएव आपके चरण-कमलों को भजनेवालों को किसी भी प्रकार के सांसारिक भय की चिन्ता नहीं रहती । सदा आप उनके सुख की अभिवृद्धि करते रहते हैं, एवं दुःख संकट आने पर शीघ्र ही प्रकट हो उसका निवारण कर देते हैं ।

हे प्रभो ! आपको त्रिनेमी (चंचलातिचंचल) भ्रृकुटी उन्हीं के लिये कालरूप होती है जो आपके आश्रित (शरणागत) नहीं होते । यहाँ का एव शब्द अन्य योग का व्यवच्छेदक है, अर्थात्—जो आपके आश्रित हैं वे निर्भय हैं और जो आपसे विमुख हैं उन्हें सदा भय बना रहता है । भगवती श्रुति ही स्पष्ट कहती है—

मुहुर्नितरां तथा च श्रुतिः "एको वशी सर्वगः कृष्ण ईड्य" इत्यारभ्य तेषां सुखं शाश्वतं नेतरेषां, तेषां सिद्धिः शाश्वती, नेतरेषामि"त्यन्तम् अन्यत्रापि एको वशी सर्वभूतांतरात्मेत्यादि "येऽनुपश्यन्ति धीरास्तेषां शान्तिः शाश्वती, नेतरेषामि"ति कठवल्लिषु ॥३३॥

विजितहृषीकवायुभिरदान्तमनस्तुरगं
य इह यतंति यंतुमतिलोलमुपायखिदः ।
व्यसनशतान्विताः समवहाय गुरोश्चरणं
वणिज इवाज संत्यकृतकर्णधरा जलधौ ॥३४॥

अन्वय—हे अज ! ये इह विजित हृषीकवायुभिः अतिलोलं अदान्तमनस्तुरगं यन्तुं यतन्ति (ते) जलधौ अकृत कर्णधराः वणिजः इव गुरोः चरणं विहाय उपायखिदः व्यसनशताऽन्विताः सन्ति ।

पूर्वोक्तो भगवति भावो गुर्वनुग्रहमृते न संभवति तदर्थं गुरूपसदनं विदधाति । तद्विज्ञानार्थं स गुरुमेवाभिगच्छेत्सम‍ित्पाणिः श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठम् । आचार्यवान् पुरुषो वेद, नैषा

"भयं सृजति मुहुर्नितरां तथा च" यह विमुखों के लिये हुई। आपके शरणागतों को शाश्वत शांति घोषित करनेवाली श्रुति है "एको वशी सर्वगः कृष्ण ईड्य०" ऐसा आरम्भ करके "तेषां सुखं शाश्वतं नेतरेषां"। कठोपनिषत् में भी "एको वशी०" येऽनुपश्यन्ति धीरा स्तेषाँ शान्तिः०" इत्यादि हैं ॥३३॥

पूर्वोक्त श्रुति में जो भगवान् के चरणों में भावना रखने वालों की निर्भयता की चर्चा है वह भगवद्भावना गुरुदेव के अनुग्रह बिना होना कठिन है। अतः यह श्रुति गुरु-शरणागत होने का उपदेश देती है :—"तद्विज्ञानार्थं०" आचार्यवान् पुरुषो वेद'

मतिस्तर्केणापनेया प्रोक्ताऽन्येनैव गुरुणा सुज्ञानाय, प्रेष्ठ सम्बोधनं भवति धर्मराजस्य नचिकेतसंप्रति आचार्यदेवो भव तस्मै स विद्वानुपसन्नाय सम्यक् प्रशांतचित्ताय शमान्विताय येनाक्षरं पुरुषं वेद सत्यं प्रोवाच तां तत्त्वतो ब्रह्मविद्यां । यस्य देवे परा-भक्तिर्यथा देवे तथा गुरौ, तस्यैते कथिताह्यर्थाः प्रकाशन्ते महात्मन" इत्याद्याः श्रुतयः विजित इति विजितानि नियमितानि हृषीकाणि इन्द्रियाणि वायुश्च प्राणो यैस्तैरपि अदान्तमनस्तु-रगम वश्यं मनोरूपमश्वं निरतिशयचांचल्ये उपमानं नियन्तुं यतन्ति वशीकर्त्तुं यत्नपरायणा भवंति । गुरोश्चरणं समवहाया-नाश्रित्य असाधारणसाधनं विहाय साधारणसाधनपरा इत्यर्थः कीदृशं मनः अतिलोलम् अत्यन्तचंचलम् उपायखिदः उपायेषु श्रांताः संतः व्यसनानां शतैर्व्याप्ता इह जन्मादिदुःखात्मके संसारे

इत्यादि बहुत-सी श्रुतियाँ गुरु-शरणागति पर बल देती हैं। क्योंकि जिन साधकों ने इन्द्रियों और प्राणों को वशीभूत करके मन को वशीभूत करने के लिये गुरु-चरणों का आश्रय लिये बिना ही उपाय करने में लग जाते हैं, उनका वह प्रयत्न सफल नहीं हो सकता, क्योंकि मन को वश में करने के लिये गुरुदेव का आश्रय लेना परम आवश्यक है, गुरु-शरणागति ही मन को वश में करने के लिये असाधारण मुख्य उपाय है। उसे अवश्य करना चाहिये, नहीं तो अत्यन्त चंचल मन का वश में होना कठिन है, और जब तक मन वश में नहीं होता तब तक सांसारिक दुःखों का मिटना असम्भव है।

हे अज ! अजन्मा प्रभो ! जिस प्रकार कोई समुद्र मार्ग से विदेश में जानेवाला व्यापारी (वणिक्) बिना नाव (जहाज बोट) के ही जाना चाहे तो जैसी उसकी स्थिति होती है, वैसी

संति वर्त्तन्ते नित्यसंसारिणो भवंति। हे अज अकृतकर्णधारा अस्वीकृतनाविका वणिज इवेति मज्जने दृष्टान्तः ॥३४॥

स्वजनसुतात्मदारधनधामधरासुरथै
स्त्वयिसति किं नृणां श्रयत[1] आत्मनि सर्वरसे।
इति सदजानतां मिथुनतो रतये चरतां
सुखयति कोन्विह स्वविहतः स्वनिरस्तभगः ॥३५॥

अन्वय—हे प्रभो ! नृणां श्रयतः पुंसः त्वयि सर्वरसे आत्मनि सति स्वजनसुतात्मदारधनधामधरासुरथैः किम् इति सत् अजानतां मिथुनतो रतये चरतां कः सुखयति स्वविहतः स्वनिरस्तभगः।

गुरूपसत्तौ वैराग्यस्य कारणत्वात् तदेव विदधति। "परीक्ष्य लोकान् कर्मचितान् ब्राह्मणो निर्वेदमायात् नास्त्यकृतः कृतेन। यदा सर्वेप्रमुच्यते कामायेऽस्य हृदि श्रिताः। अथ मर्त्यो मृतो भवत्यत्र ब्रह्म समश्नुते" इत्याद्याः श्रुतयः॥ स्वजनेति॥

ही गुरु-शरणागत हुए बिना ही संसार समुद्र से पार चाहनेवाले की होती है। गुरु-शरणागत हुए बिना जितने उपाय किये जाते हैं वे सब विफल हो जाते हैं ॥३४॥

सद्गुरुदेव के शरणागत हो जाने पर उनके सदुपदेश से संसार के विषय भोगों में अरुचि एवं वैराग्य होता है। इस आशय को यह श्रुति प्रकट करती है—"परीक्ष्य लोकान्०" इत्यादि श्रुतियों का भी यही कथन है कि सांसारिक विषयों की अनित्यता क्षणिकता देखकर साधक के चित्त में विषयों के प्रति वैराग्य उद्भूत होता है। उसे ज्ञान हो जाता है कि इन सांसारिक वैभवों

---

१. त्वां श्रतयः पुंसः।

नृणां मध्ये त्वां श्रयतः, पुंसः त्वयि आत्मनि अंतर्यामिणि भगवति पुरुषार्थचतुष्टयदातरि विद्यमाने सति स्वजनादिभिः किं कार्यं न किमपीत्यर्थः कथंभूते सर्वरसे अपरिच्छिन्नपरमानन्दे। "रसो वै सः रसं ह्येवायं लब्ध्वाऽऽनन्दी भवति एतस्यैवा नंदस्यान्यानि भूतानि मात्रामुपजीवन्ती" त्यादिश्रुतेः चिन्तामणिभूषितानां काचादिभिर्न किंचित्प्रयोजनं यथा तद्वत्। इति सदजानताम् एवंभूतं परमानंदस्वरूपं सर्वज्ञं सद्रूपं त्वामजानताम् अतएव मिथुनतो रतये चरताम् स्त्रिया मिथुनीभूय ग्राम्यसुखायेन्द्रियप्रीतये चरतां कर्मणि षष्ठ्यो अजानतश्चरतो जनान् कोऽर्थः सुखयति आनन्दयति इह भजनहीने वर्णाश्रमधर्मे। तथा चोक्तं प्रथमे श्रीनारदेन "को वार्थ आप्तो भजतां स्वधर्मत"

को जुटानेवाले कर्मों से (अकृत) मोक्ष नहीं मिल सकता। जब तक इन सांसारिक विषय भोगों की इच्छा, अभिलाषा, लालसा नहीं हटती, तब तक वास्तविक सुख कहाँ ? सांसारिक विषयों से मन हट जाने एवं वैराग्य होने पर ही जीव प्रभु की ओर अग्रसर होगा और तभी इसे शान्ति मिलेगी। इसी आशय को यह श्रुति प्रकट करती है :—हे प्रभो ! मनुष्यों में जिस व्यक्ति ने सर्वान्तर्यामी सच्चिदानन्दस्वरूप, समस्त सुखों के प्रदाता आपका आश्रय ले लिया, फिर दूसरे विनश्वरशील शरीरोंवाले स्वजन कुटुम्बी, पुत्र-पौत्र और यह सुन्दर सुडौल अपना शरीर तथा स्त्री, धन-दौलत, महल-मकान, जमीन-जायदाद, रथ-घोड़े आदि वाहन इन सबसे उसे क्या प्रयोजन ? तात्पर्य यह है कि सच्चे हितैषी आपको न जाननेवाले मैथुनादि क्षणिक सुखों में रत और उनकी प्राप्ति के प्रयत्न में लगे हुए प्राणियों को इस संसार में कहाँ क्या सुख मिल सकता है, क्योंकि निरन्तर परिणत विकृत होनेवाले सांसारिक पदार्थ निस्सार हैं। सारहीन, भोग्य वस्तुओं में चूसे हुए गन्ने की

इति अर्थस्य विशेषणद्वयं स्वेनैव परिणामादिमत्वेन हतः, स्वरूपेणैव जडत्वादिना निरस्तसारः ॥३५॥

भुवि पुरि पुण्यतीर्थसदनान्यृषयोविमदा-
स्तउत भवत्पदांबुजहृदोऽघभिदंघ्रिजलाः ।
दधति सकृन्मनस्त्वयि य आत्मनि नित्यसुखे
न पुनरुपासते पुरुषसार हरावसथान् ॥३६॥

अन्वय—हे पुरुषसार ! भुवि पुरि ये विमदाः ऋषयः भवत्पदाम्बुजहृदः अघभिदंघ्रिजलाः नित्यसुखे आत्मनि त्वयि सकृत् मनो दधति ते पुण्यतीर्थसदनानि उपासते उत पुनः हरावसथान् न (उपासते)।

तीर्थवासादेरपि परंपरया परमार्थपरत्वात्तदेव प्रतिपादयन्ति । "मथुरायां विशेषेण मां ध्यायन्मोक्षमश्नुत" इत्यादि श्रुतयः । भुवीति ऋषयः पुरि पुण्यतीर्थसदनानि उपासते सेवंते पुरीः मथुरादीः पुण्यतीर्थानि गङ्गादीनि सदनानि वृन्दावनादीनि

भाँति कुछ भी रस नहीं मिल सकता । यहाँ संसार की निवृत्ति का कारण भगवद्भक्ति को बतलाकर उसी भक्ति के अंगरूप वैराग्य का दिग्दर्शन कराया गया है ॥३५॥

तीर्थ आदि पवित्र स्थानों का निवास भी परम्परया, परम पुरुषार्थ (मोक्ष) में हेतु है, इस आशय का यह श्रुति प्रतिपादन करती है । जैसे कि उपनिषद् पुराणादि शास्त्रों में कहा गया है कि—विशेष करके मथुरापुरी में रहकर मेरा (परमात्मा का) ध्यान करने से मोक्ष की प्राप्ति हो जाती है। अतः ऋषिजन मथुरा आदि पुरियों में, गङ्गा आदि तीर्थों में और श्रीवृन्दावन आदि भगवान् के सदनों (धामों) में निवास करते हैं। वे जाति

कथंभूताः विमदा [1]जातिविद्याद्यहंकारहीनाः भगवत्पदांबुजहृदः भगवतश्चरणांबुजं हृदि येषां ते अनन्यचरणाश्रयाः एतत्फलगर्भितविशेषमाह अघभिदंघ्रिजलाः अघनाशकमंघ्रिजलं येषां ते । "मद्भक्तियुक्तो भुवनं पुनाती"ति भगवद्वाक्यात् युक्तमेवैतदित्याहुः य आत्मनि भगवति त्वयि सकृदपि मनो दधते ते हरावसथान् रुद्राधिष्ठितांस्तमः कार्यभूतान् क्रोधाहंकारादीन् गुणान्नोपासते न सेवन्ते तद्वशा न भवन्तीत्यर्थः हे पुरुषसार हे पुरुषोत्तम कथंभूते नित्यसुखे सदानंदे श्रीकृष्णे इति यावत् "कृषिर्भूवाचक"इत्यादिनिर्वचनात्

विद्या आदि के अहंकार से रहित हो जाते हैं, क्योंकि निरन्तर वे अपने हृदय में आपके ही चरण-कमलों का ध्यान करते रहते हैं । समस्त पापों का छेदन करनेवाले आपके चरणकमलरूपी जल से उनके समस्त पाप धुल जाते हैं । यह ऐसा कथन केवल श्रुति ही नहीं करती, स्वयं भगवान् भी कहते हैं "मद्भक्ति युक्तो भुवनं पुनाति" अर्थात् मेरा भक्त स्वयं तो पवित्र है ही वह समस्त भुवन को भी पवित्र कर देता है ।

भगवती श्रुति कहती है कि—हे प्रभो ! आपकी यह उक्ति यथार्थ है कि आपका भक्त भुवन को पवित्र कर देता है । एक बार भी यदि आपके चरण-कमलों में जिसका मन लग जाता है, वह फिर तमोगुण के कार्यस्वरूप अहंकार आदि के वश में नहीं होता, क्योंकि हे पुरुषसार, पुरुषोत्तम ! सदा आनन्द की वर्षा करने एवं नित्य ही सुख प्रदान करनेवाले प्रभु श्रीकृष्ण के चरणों में जिसका मन लग गया उसकी फिर दुःखरूप गृह आदि में

---

१. जातिविद्या महत्वं च रूपं यौवनमेव च । यत्नेन परिवर्जनीयाः ।

सदानन्दं प्राप्तानां न पुनर्दुःखरूपे गृहादौ प्रवृत्तिसंभावना-पीत्यर्थः ।।३६।।

सत[1] इदमुत्थितं सदिति चेन्ननु तर्कहतं
व्यभिचरति क्वच क्वच मृषा न यथोभययुक् ।
[2]व्यवहृतये विकल्प इषितोऽधपरंपरया
भ्रमयति भारती त[3]उरुवृत्तिभिरुक्थ[4]जडान् ।।३७।।

अन्वय—इदं सत् सतः उत्थितम् ननु तर्कहतं इति चेत् क्वच क्वच व्यभिचरति व्यवहृतये विकल्पः इषितः न तथा उभययुक् अन्धपरम्परया ते भारती ऊरु वृत्तिभि कथ जडान् भ्रमयति ।

तदेवपूर्वोक्तं श्रुतिवाक्यानां सिद्धान्तं स्वोत्प्रेक्षिततर्कवलेनान्यथा कल्प्यमानानां वादनिरसनपूर्वकं निर्णीयते ।। सत इति इदं जगत् सत्कुतः सत उत्थितं सतो ब्रह्मण उत्थितत्वात् कटककुण्डलादिवत् । इति सिद्धान्तः तथा चोक्तं "नहि विकृतिं

प्रवृत्ति ही नहीं होती कुछ टीकाकारों ने "पुरुषसार हरावसथात्" इसे एक ही पद मान लिया है ।।३६।।

पूर्व में कहे हुए श्रुतियों के सिद्धान्त को अपने द्वारा कल्पित तर्कों के बल पर अन्याऽन्य कल्पनाओंवालों के वाद का निरसन करती हुई यह श्रुति निर्णय करती है—सत् इत्यादि पदों द्वारा यह दृश्यमान जगत् सत् है क्योंकि सत् स्वरूप ब्रह्म से आविर्भूत हुआ है । जिस प्रकार सोने से बने हुए कटक कुण्डल आदि सभी आभूषण भी सुवर्ण ही होते हैं, उसी प्रकार सत् से उद्भव होनेवाला यह विश्व भी सत् ही है । यही श्रुतियों का सिद्धान्त है, पूर्व भी

---

१. जगत् । २. अज्ञानां बुद्धिहरणाय । ३. तव । ४. ईश्वरपराङ्मुखान् ।

त्यजंति कनकस्य तदात्मतया । किन्तु सदभिमृशंती"त्यादिना "सदेव सौम्येदमग्रआसीत्तदैक्षत बहुस्यां प्रजायेय, सोऽसृजत नारायणाज्जायते प्राणो मनः सर्वेन्द्रियाणि च खं वायुर्ज्योतिरापः पृथिवी विश्वस्य धारिणी । नारायणाद्ब्रह्मा जायते नारायणाद्रुद्रो नारायणाद्द्वादशादित्या" इत्यादि श्रुतेः "अहं सर्वस्य प्रभवो मत्तः सर्वं प्रवर्त्तते" इति "यतः सर्वाणि भूतानि प्रभवंति युगागमे" इत्यादिस्मृतेश्च, वैदिकसिद्धान्तमसहमानः शंकते ननु तर्कहतमिति चेदिति यदि सेश्वरं जगन्मिथ्या न स्यात्तर्हि अद्वैतसिद्धान्तभंगप्रसंगः स्यादित्यादिभिस्तर्कैर्हतमिति चेत्तत्राह क्वच क्वच व्यभिचरतीति तर्कस्य तर्कैरेव यत्र तत्र व्यभिचरित-

---

२७वीं श्रुति द्वारा कहा गया है—सोने से बनी हुई कैसी भी विकृतियाँ क्यों न हों वे सुवर्णत्व को नहीं छोड़ सकतीं क्योंकि वे सुवर्णात्मक हैं । अतः सत् से उद्भूत और उसी में रहनेवाला यह विश्व भी सत् ही कहलाता है । "सदेव सौम्य०, तदैक्षत बहुस्यां०, सोऽसृजत०, नारायणाज्जायते०, नारायणाद्ब्रह्मा०" इत्यादि अन्याऽन्य श्रुतियों ने भी चराचर तक विश्व को ब्रह्म से ही आविर्भूत माना है । अहं सर्वस्यप्रभवः० इत्यादि गीता और यतः सर्वाणि० इत्यादि महाभारत के वचनों से भी उपर्युक्त कथन की ही पुष्टि होती है ।

इस वैदिक (सिद्धान्त) को सहन न करनेवाले प्रतिबादी शङ्का करते हैं :—"ननुतर्क हतम् इति चेत्" अर्थात् प्रतिवादी कहता है कि "जगत् सत् है" इस प्रकार का सद्वाद तर्कसंगत नहीं है । तर्क इस तरह का है :—यदि सेश्वर जगत् को मिथ्या (असत्) नहीं माना जायेगा तो अद्वैत सिद्धान्त के भंग हो जाने का प्रसंग खड़ा हो जायेगा । इस प्रकार के तर्क उठानेवालों को श्रुति द्वारा ही उत्तर दिया जा रहा है—क्वच क्वच व्यभि-

त्वात्, तथाहि अर्थापत्तिप्रमाणकब्रह्माद्वैतविषयकोऽयं भवतां सिद्धान्तः सद्वा मिथ्या वा ? सत्त्वे द्वैतापत्तिः, अन्त्ये सिद्धान्तबाधेन जगतः सत्यत्वम् । अपि च पूर्वोक्तसिद्धान्ते किं प्रमाणं शास्त्रमिति चेत्तत्प्रमाणरूपं शास्त्रं सत्यं वा मिथ्या वा ? आद्येऽद्वैतप्रतिज्ञाभंगः द्वितीये च सम्प्रदायस्य तत्प्रवर्तकाचार्याणां च सत्यत्वं मिथ्यात्वं वा ? प्रथमे द्वैतापत्तिः, अन्त्ये सिद्धान्तस्य शशशृङ्गताडनोपमात्वम्, यथा शशशृङ्गस्य मिथ्यात्वेन ईश्वरपराङ् मुखानां ताडनस्य सुतरां तत् तथा प्रवर्त्तकाणां मिथ्यात्वेन तत्प्रवर्त्यत्वेन तेषां सिद्धान्तस्य सुतरां तत्तुल्यतेति । ननु व्यवहारे सर्वमस्माभिरभ्युपगम्यते व्यवहारस्याऽविद्याकल्पितत्वेन तन्निवृत्त्याऽद्वैत-

---

चरति ? कहाँ कहाँ व्यभिचार है ? यहाँ क्व क्व प्रश्न का-कु रूप का है ।[1] अर्थात् कहाँ व्यभिचार है ? कहीं भी नहीं । भाव यह है कि सद्बाद को असद्बादी यदि तर्क से ही उड़ाना चाहे तो तर्क से ही उसका असद्बाद भी उड़ जाता है ।

उदाहरण के लिये यहाँ कुछ दिग्दर्शन कराते हैं कि तर्क के द्वारा असद्बाद किस प्रकार उड़ता है । असत् वाद का आग्रह करनेवाले अद्वैती होते हैं अर्थात् वे "ब्रह्माद्वैत" अपना सिद्धान्त घोषित करते हैं । और अर्थापत्ति प्रमाण द्वारा उसका समर्थन होना बतलाते हैं । उनसे यदि पूछा जाय कि यह आपका ब्रह्माद्वैत सिद्धान्त सत् है या असत् (मिथ्या) ? यहाँ उनकी बोलती बन्द हो जाती है, क्योंकि अपने सिद्धान्त को सत् बतलावें तो एक ब्रह्म सत् था और एक सिद्धान्त सत् हो गया, दो सत् तत्व हो गये, अतः "द्वैत" हो गया । यदि जगत् को असत् माननेवाला सिद्धान्त असत् (मिथ्या) है तो जगत् सत् सिद्ध हो गया ।

---

1. का कु० स्त्रियां विकारो यः, शोकभीत्यादिभिर्ध्वने । (अमरकोष)

सिद्धौ न काऽपि हानिरिति चेत्तत्र पृच्छ्यते भवतां मतेऽविद्याकृतद्वैताभ्युपगमेऽविद्याया ब्रह्मणोऽभिन्नत्वं वा भिन्नत्वं ? आद्ये ब्रह्मणोऽविद्यात्वे सति तद्रूपत्वात् मोक्षेप्यविद्यानिवृत्तिर्नस्यात् । द्वितीये द्वैतापत्तिर्दुर्वारा उभयथापि पाशारज्जुरित्यलं तर्कैः ।

और भी सुनिये—कोई पूछे कि असद्वाद सिद्धान्त में क्या प्रमाण है ? यदि यह कहे कि शास्त्र ही प्रमाण है । तो फिर वही प्रश्न खड़ा होगा, "वह प्रमाणरूप शास्त्र सत् है या असत् । इस पर यदि शास्त्र को सत् कहेंगे तो वही प्रमाण (शास्त्र) और प्रमेय (ब्रह्म) दोनों का द्वैत हो गया, उनकी अद्वैतवाली प्रतिज्ञा का भंग हो गया । यदि शास्त्र को असत् (मिथ्या) बतलायेंगे तो प्रश्न होगा—अद्वैत सम्प्रदाय और उसके प्रचारक आचार्य सत् हैं या असत् (मिथ्या) ? सत् कहेंगे तो वह की वह द्वैतापत्तिः और असत् (मिथ्या) बतलायेंगे तो अद्वैतवाद और उसके प्रवर्तक आचार्य सबका खरगोश के सींग की चोट जैसा हाल हो जायेगा । जब खरगोस का शृग है ही नहीं तब उसकी चोट कैसी ? जब जिस सिद्धान्त के प्रवर्तक आचार्य असत् (मिथ्या) ही हैं तब उनके द्वारा प्रचारित असत्वाद अपने आप असत् (मिथ्या) हो गया ।

यदि इस आपत्ति को मिटाने के लिये वे यह कहें कि हम असद्वादी भी व्यवहार में तो सबको सत् ही मानते हैं, किन्तु व्यवहार को हम अविद्याकल्पित समझते हैं, जब कभी अविद्या निवृत्त हो जायेगी तब अपने आप द्वैत मिटकर अद्वैत सिद्ध हो जायेगा । द्वैत (विश्व) को व्यावहारिक सत् मानने से हमारा क्या बिगड़ता है ।

सिद्धान्ती (सत्वादी) कहता है—ठीक है, आप द्वैत (विश्व) को अविद्याकृत् मानते हैं तो हम आपसे पूछते हैं कि वह अविद्या ब्रह्म से अभिन्न है अथवा भिन्न ? यदि इस प्रश्न के

किंच तर्काणां शास्त्रादपि व्यभिचारः प्रसिद्धः । तथाहि "नैषा मतिस्तर्केणापनेया" इत्यादि श्रुतेः "तर्काप्रतिष्ठानादि"ति पारमार्षसूत्रात् । "अचिन्त्याः खलु ये भावा न तांस्तर्केण योजयेदि"ति औषधरूपमनुवचनाच्च । अस्माकं तु वैदिकानां सिद्धान्तो न तथेत्याहुः, न च यस्तर्केणानुसन्धत्ते सधर्मं वेद नेतर इति तद्वाक्येनैवविरोधः शंक्यस्तस्य श्रुतिमूलकतर्कपरत्वात् ।

प्रत्युत्तर स्वरूप आप ब्रह्म और अविद्या दोनों को एक ही कहोगे तो ब्रह्म को भी अविद्या-स्वरूप ही मानना पड़ेगा, यदि हाँ करते हो तब तो मोक्ष होने पर भी अविद्या की निवृत्ति नहीं हो पायेगी । और यदि अविद्या को ब्रह्म से भिन्न स्वीकार करते हो तो वही द्वैतापत्तिः सामने आ जाती है । इस प्रकार असद्वादी जिधर मुँह करता है उधर ही मुक्का दिखाई पड़ता है इसे कहते हैं उभयतः पाशारज्जुः" दूसरे शब्दों में "इधर कुआँ और उधर गहरा गम्भीर खड्डा (खाई)" । बस छोड़ो, इन तर्क कुतर्कों को ज्यादा विस्तार करने से क्या लाभ ?

अधिक क्या शास्त्र भी तर्कों का व्यभिचार दिखाता है। कहाँ ? सुनो । नैषामतिस्तर्केण आपनेया० इत्यादि श्रुतियाँ और तर्काप्रतिष्ठानात्० ब्र० सू० २।१।११ यह वेदव्यासजी कृत पारमार्ष सूत्र तथा "अचिन्त्याः खलु ये भावाः०" इत्यादि परमभेषजरूप मनु महाराज की उक्ति, इन सबका यही भाव है कि केवल तर्क से कोई भी विवाद नहीं सुलझ पाता ।

हाँ—हम सद्वादी वैदिक सिद्धान्तवालों का सिद्धान्त तो "न तथा" आपके जैसी उलझनवाला नहीं है । इस पर यदि असद् (अद्वैत) वादी अंगुलि उठाकर कहे कि शास्त्र भी तो "यस्तर्केणानुसन्धते, स धर्म वेद नेतरः" । इत्यादि वचनों द्वारा तर्क की आवश्यकता बतलाता है, तो वह ठीक नहीं । क्योंकि इस उपर्युक्त

नतथोभययुक् उभययुक् श्रुतिस्मृतियुक्तः सिद्धान्तस्तथा मृषा न स्यात् यथा तर्कस्य मृषात्वं तथा न वैदिकस्येति भावः । तथा च श्रुतिः । यथोर्णनाभिः सृजते गृह्णते च यथा सतः पुरुषात्केशलोमानि यथा पृथिव्या ओषधयः संभवन्ति तथाऽक्षरात् संभवतीह विश्वं सन्मूलाः सौम्येमाः प्रजाः सदायतनाः सत्प्रतिष्ठा" इत्यादि । ननु जगतः सत्कार्यत्वं भवतु परन्तु सत्कार्यस्य सत्त्वे किमानमिति चेत् ? श्रुतिस्मृती एवास्माकं प्रमाणं तथाहि

वचन में केवल तर्क नहीं शास्त्रमूलक तर्क का ही उल्लेख किया गया है ।

आपका असद्वाद एवं तर्क श्रुतिस्मृति उभयमूलक नहीं है । इसलिये तर्क के द्वारा हमारे सद्वाद को झुटला नहीं सकते, जैसी जितनी आपके तर्क में निस्सारता है वैसी वैदिक सिद्धान्त में निस्सारता नहीं है । स्वयं भगवती श्रुति देखिये कैसा उद्घोष कर रही है :—जिस प्रकार मकड़ी बाहर से न कोई सामग्री लाती है, न किसी का सहयोग ही लेती है, अपने आपमें से तन्तु (जाला) निकालती है और फिर ग्रहण भी कर लेती है । "यर्थोर्णनाभिः सृजते गृह्णते च०" । और उसी प्रकार पुरुष शरीर से केश लोम आदि पृथ्वी से औषधियाँ उद्भूत होती हैं उसी प्रकार अक्षर (सत् ब्रह्म) से यह विश्व प्रकट होता है । इसीलिये इसे "सन्मूलाः सौम्येमाः प्रजाः सदायतनाः सत्प्रतिष्ठाः" ये श्रुतियाँ सत् कहती हैं। अर्थात् हे सोम्य इस प्रजावर्ग (विश्व) का मूल सत् ही है वही इसका आधार है, उसी में यह प्रतिष्ठित रहता है ।

अस्तु । असद्वादवाला वादी कहता है—मान लिया यह विश्व सत् का ही कार्य है किन्तु इसको सत् सिद्ध करने में क्या प्रमाण है ? सिद्धान्ती का उत्तर है—कि सत्कार्य की सत्ता में श्रुतिस्मृति ही प्रमाण हैं, देखिये "ऊर्ध्वमूलमधः शाखा०" (गीता०

ऊर्ध्वमूलोऽर्वाक् शाखएषोऽश्वत्थः सनातन" इति श्रुते "ऊर्ध्वं-
मूलमधः शाखमश्वत्थं प्राहुरव्ययमि"ति भगवदुक्तस्मृतेश्च । ननु
सनातनाव्ययपदयोरनादित्ववाचकत्वेनाविद्यादेरनादित्वमभीष्ट-
मेव तथा चानादिसांतत्वं तल्लक्षणमस्माभिः प्रतिपाद्यते । सतेति
च तथा सति अनाद्यविद्यादेर्भावित्वमपि अकामेनापि त्वया
स्वीकार्यं प्राप्तम् । एवं च तन्नाशे नकापि [1]निगमना । ननु प्राग-
भावदृष्टान्तेनानुमानस्ये [2]वानादिसांतत्वे निगमनात्वमिति चेन्न
प्रागभावस्याभावरूपत्वेन भावसाधने दृष्टान्तविकलत्वात् अलं-

अ० १५।१) यह भगवद् वाक्य विश्व को भी अव्यय बतला रहा है। इस पर कदाचित् प्रतिवादी यह कहे कि—सनातन और अव्यय ये दोनों पद अनादित्व के ही वाचक हैं, हम भी तो अविद्या को अनादि मानते हैं अनादि होते हुए भी उसका अन्त होता है, हमने अविद्या का "अनादिसान्तत्व" लक्षण माना है अर्थात् अविद्या अनादि है क्योंकि उसकी आदि का किसी को भी ज्ञात नहीं है। फिर भी उसका कभी अन्त अवश्य होता है।

इस पर सिद्धान्ती (विश्वसद्वादी) कहता है :—ठीक है, आप चाहें या न चाहें पर अविद्या का आपको भावरूप भी स्वीकार करना पड़ता है। ऐसी स्थिति में उस अनादि अविद्या को शान्त मानने का कोई प्रमाण नहीं मिलेगा। अगर प्रागभाव का दृष्टान्त देना चाहेंगे तो वह ठीक नहीं होगा, क्योंकि वह अभाव है, अभाव का हेतु देकर भाव की साधना करने में बुद्धि-मत्ता नहीं मानी जा सकती। कारण अभाव सर्वत्र सुलभ है, अभाव से यदि भाव की सिद्धि हो सके तो हर एक व्यक्ति उससे

---

१. एकतरपक्षपातिनीयुक्तिर्निगमना।

२. इदं जगन्नमिथ्या—अनादिसान्तत्वात् प्रागभाववत्।

विस्तरेणान्यत्र स्पष्टं कण्ठरवेण वक्ति श्रुतिः । "अथैनमाहु
सत्यकर्मेति सत्यं ह्येवेदं विश्वमसौ सृजते अथैनमाहुर्नित्यकर्मेति
नित्यं ह्येवासौ कुरुत" इत्यादि । ननु अत्यन्तप्रसिद्धमतस्य कथम-
पलापः क्रियते तत्राहुः व्यवहृतये विकल्प इषित इति अज्ञानां
शास्त्राचार्यसंस्कारवर्जितानां बुद्धिहरणाय भ्रंशाय विकल्पः
तर्कबलेनविविधनिरीश्वरवादकल्पना इष्टेव यथा मंदचक्षुषां
वणिजामग्रएव कूटद्रव्यव्यवहारो न शुद्धचक्षुष्मतां तथाऽज्ञाना-
निरीश्वरवादकल्पनया मतिभ्रंशः, न वैदिकसम्प्रदायिनामिति ।

मन चाहे भाव-पदार्थ की सिद्धि करके अपना अभीष्ट पूरा कर लेगा। अच्छा छोड़िये इन ऊपरी दलीलों को। श्रुति ही स्पष्ट कहती है—परमात्मा सत्यकर्मा है, वह कोई भी झूठा कार्य नहीं करता, अतः सत् विश्व की ही रचना करता है और वह नित्य-कर्मा है, सदा अपना कार्य करता है कभी भी निठल्ला नहीं बैठा रहता।

अच्छा तो यह बड़ी विचित्र बात है जिसकी सिद्धान्ती आलोचना कर रहे हैं, यह असद्वाद इतना प्रसिद्ध कैसे हो गया इस आशंका का भगवती श्रुति "व्यवहृतये विकल्प इषितः" शास्त्र आचार्य और संस्कार रहित अज्ञानी व्यक्तियों की बुद्धि को भ्रंश करने के लिये तर्क-वितर्कों द्वारा ऐसी निरीश्वरवाद की विविध कल्पना करनी ही पड़ती हैं। जिस प्रकार मन्द दृष्टि-वाले किसी वैश्य को खोटे पैसे देकर सौदा ले जाता है, उसी प्रकार मन्द मतिवालों को ये ठगते हैं, जिसकी आँखों की ज्योति अच्छी हो उसको कोई नहीं ठग सकता, ठीक इसी प्रकार ये निरीश्वरवाद की कल्पना अज्ञानीजनों की ही बुद्धि का भ्रंश करती हैं। वैदिक सिद्धान्त के जानकारों के सामने उनकी दाल नहीं गलती।

ननु अप्रमाणस्य कथं प्रवृत्तिस्तत्राह अन्धपरम्परया अन्धपरम्परारूपेण प्रवृत्तिरिति शेषः तथा च श्रुतिः "अविद्यायामन्तरे वर्त्तमानाः स्वयंधोराः पण्डितंमन्यमानाः जघन्यमाना अपि यन्ति मूढाः अन्धेन नीयमाना यथाऽन्धाः" इत्यादि तत्र कारणमाह भ्रमयतीति ते तव भारती उरुवृत्तिभिः गौणीलक्षणादिभिः स्वोत्प्रेक्षिताभिः उक्थजड़ान् ईश्वरपराङ्मुखान् तर्काभिनिवेशेन जडोभूतान् दुराग्रहेणोन्मत्तान् भ्रमयति तव वचोऽपरिज्ञानात्तेषां तवैश्वर्यादौ भ्रान्तिस्तदनुगामिनां सुतरां भ्रम इति भावः ॥३७॥

यहाँ कोई शङ्का करे कि इस अप्रामाणिक असद्वाद की आवृति हुई ही कैसे ? इसका श्रुति समाधान करती है कि— "अन्धपरम्परया" "अविद्यायामन्तरे विद्यमानाः" "अन्धेनैव-नीयमाना यथाऽन्धाः" अन्धपरम्परा का कारण ? भ्रमयति उक्थ-जडान्=दुराग्रही भगवद्विमुखों को आपके निःश्वास रूप वेदों के वचन ही भरमा देते हैं। उनका वे तात्पर्य नहीं जान पाते। आपकी शक्ति और ऐश्वर्य के विषय में उन्हें भ्रान्ति हो रही है, वही यह अन्ध-परम्परा चली आ रही है। एक प्रचारक ने जैसा कह दिया उसके अनुयायियों ने भी उसी का अनुकरण किया।

इस श्रुति की टीका करनेवालों में प्रमुख श्री श्रीधर स्वामी वैष्णव होते हुए भी असद्वादपरक इस श्रुति की व्याख्या कर डाली, उनका सम्मान करनेवालों ने भी वैसा ही अर्थ किया परन्तु अन्य वैष्णवों ने तत्वप्रकाशिका के अनुकूल समर्थन किया है। वैष्णव टीकाकार विश्व को मिथ्या असद् न मानकर परिवर्तनशीलता को ही असत् शब्द का तात्पर्य मानते हैं ॥३७॥

नयदिद[1]मग्र आस न भविष्यदतो निधना-
दनुमितमन्तरा[2] त्वयि विभाति मृषैकरसे।
अत उपमीयते द्रविणजातिविकल्पपथै-
र्वितथमनोविलासमृतमित्यवयन्त्यबुधाः ॥३८॥

अन्वय—इदं यत् अग्रे (त्वयि) न आस निधनाद् अनु न भविष्यत् अत. अन्तरा एकरसे त्वयि मृषा विभाति इति मितं। अतः द्रविणजातिविकल्पपथैः उपमीयते (ये) ऋतं वितथं मनोविलसितं अवयन्ति (ते) अबुधाः।

उपनिषदों "सर्वं खल्विदं ब्रह्म छां०" में समस्त दृश्यमान चराचरात्मक विश्व को ब्रह्म बतलाया है। पादोऽस्य विश्वा भूतानि० इत्यादि श्रुतियों में इस विश्व को एक पाद विभूति बतलाया है। यद्यपि पिछली सैंतीसवीं श्रुति की जगत्मिथ्यात्व-परक व्याख्या करके कुछ टीकाकारों ने विश्व की सत्यता में विरोध दिखाया है, तथाऽपि मूल शब्दों से सत् रूप ब्रह्म से आविर्भूत विश्व की सत्यता ही सिद्ध होती है। परन्तु ब्रह्म कारण है और विश्व है उसका कार्य, कार्य कारण की स्थिति पर यदि लौकिक पदार्थों को दृष्टि में रखकर विचार किया जाय तो यही अवगत होता है कि कारण में विकार हुए बिना कार्य उत्पन्न ही नहीं होता। उदाहरणार्थ बीज और वृक्ष ही लिया जा सकता है, पृथ्वी में बोया हुआ बीज कुछ फूलता है, फटता है फिर अंकुर निकलता है, बीज फिर बीज रूप में नहीं रहता, वह तो शनैः शनैः वृक्ष ही बन जाता है। क्या इसी प्रकार विश्व के कारण रूप परमेश्वर की भी बीज के समान ही स्थिति हो जाती है।

---

१. जन्मादिविकारम्। २. निर्णीतम्।

इदानीं जगत्कारणभूते ब्रह्मणि परमेश्वरे विकारादिशंका निराक्रियते न यदिदमिति—इदं जन्मादि तत्संबन्धतत्कारणा-विद्यातत्कार्यरागाभिनिवेशादि यद्यस्मात् सृष्टेः पूर्वं त्वयि सर्वज्ञे नास नासीत् अतो निधनादनु अतोऽस्य विश्वस्य रूपगुणशक्ती प्रलयानन्तरमपि न भविष्यन्न भविष्यति तथा च श्रुतिः—"यः सर्वज्ञः सर्वविद् यस्य ज्ञानमयं तप" इत्यादि "वेदाहं समतीतानि वर्त्तमानानि चार्ज्जुन। भविष्याणि च भूतानि मां तु वेद न कश्चने"ति भगवदुक्तेश्च, मध्येऽपि नैव, कुतः तेषां विकारादीनां जडाभिमानवतः क्षेत्रस्य धर्मत्वादित्याहुः। एकरसे अप्रच्युत-स्वरूपगुणशक्तौ "स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया" चेति श्रुतेः, ननु

प्रस्तुत श्रुति द्वारा विश्व के कारण परब्रह्म परमेश्वर में उपर्युक्त विकृति की शंका का निवारण किया जा रहा है। श्रुति भगवती कहती है कि जन्म आदि षड् भाव विकार उनका सम्बन्ध और उसके कारण रूप राग आदि का अभिनिवेश आदि सृष्टि के पूर्व हे सर्वज्ञ प्रभो ! आप में नहीं थे, प्रलय होने के पश्चात् भी इस विश्व के प्राकृत रूप गुण शक्ति आप में नहीं रहते। इस आशय का प्रतिपादन "यः सर्वज्ञः सर्वविद" इत्यादि श्रुतियाँ और "वेदाहं समतीतानि०" इत्यादि स्मृति (भगवदुक्ति) भी प्रकट करती है। सृष्टि के पूर्व और प्रलय के पश्चात् ही नहीं मध्य (सृष्टि की विद्यमानता के समय) में भी नहीं रहते। क्योंकि वे सब विकृतियाँ जड़ाभिमानयुक्त क्षेत्रज्ञों का धर्म है। परमात्मा तो एक रस हैं, उनके गुण स्वरूप और शक्ति की प्रच्युति नहीं हो सकती। श्रुति ही कहती है—"स्वाभाविकी ज्ञान बल क्रिया च" परमात्मा की ज्ञानशक्ति, बलशक्ति और क्रियाशक्ति ये सब स्वाभाविकी हैं।

"यं देवं देवकी देवी वसुदेवादजीजनदि"त्यादेः शास्त्रस्य जन्मादौ प्रमाणत्वात्कथं निर्विकारत्वं तत्राहुः ।। मृषैवेति ।। अज्ञानां त्वत्तः पराङ्मुखानां त्वयि विकारादिशंका भाति प्रतीयते। नच तत्प्रतिपादकपूर्वोक्तवाक्यविरोधः शंकनीयः तस्य त्वाविर्भाव-परत्वान्न बाधः। किंच जन्मकारणीभूतकर्मणोऽभावत्वात्कथं तदुद्भवः संभावनीय इत्येतत्स्वयमेव भगवता प्रतिपादितं "अजोऽपि सन्नव्ययात्मे"त्यादि "अजायमानो बहुधा व्यजायत" इतिश्रुतेश्च एतत्ते स्वरूपम् अस्माभिरेव श्रुतिनिर्मितं न तर्का-द्यवकाशः "यआत्माऽपहतपाप्मे"त्यादिभिः। अतएव व्यतिरेक-

---

यदि भगवान या और कोई भी यह पूछ बैठें कि भगवान् श्रीकृष्ण के जन्मादि के विषय में तो "यं देवं देवकी देवी वसुदेवादजी जनत्" इत्यादि शास्त्रीय वचन ही प्रमाण हैं जो भगवान् में भी जन्म आदि के विकारों का समर्थन करते हैं। इस शंका का समाधान श्रुति द्वारा किया जाता है "मृषा" अर्थात् हे प्रभो ! आपसे विमुख मूर्ख अज्ञानियों को ही आपमें विकारों की प्रतीति होती है। वादी कहे कि ठीक है—परन्तु पूर्वोक्त (भगवान् के जन्म के कथन करनेवाले) वाक्यों का विरोध होगा वह कैसे शान्त होगा ? सुनो, ब्रह्म के जन्म शब्द का तात्पर्य उत्पन्न होना नहीं आविर्भूत होना समझना चाहिये।

जन्म के कारण पूर्वकृत कर्म होते हैं उन्हीं कर्मों के अनु-सार ही जीवों को देह मिलती हैं। किन्तु भगवान् का आविर्भाव कर्मायत्त नहीं। यह स्वयं भगवान् ने—"अजोऽपि सन्नव्ययात्मा" (गी० ४।६) और "अजायमानो बहुधा विजायत" इत्यादि श्रुतियाँ भी इसी आशय की पुष्टि करती हैं। आपका इस प्रकार का निर्विकार स्वरूप हम सब श्रुतियों द्वारा ही निश्चित किया गया है। "य आतमा अपहत पाप्मा" इत्यादि श्रुतियाँ आपको

दृष्टान्तैः द्राविणजातिविकल्पपथैर्भवानुरनीयते तथाहि यथा जीवा द्रव्यस्य ह्रासवृद्धिभ्यां जातेरुत्तमत्वनीचत्वाभ्यां विकल्पपथैर्विविधप्रकारैर्हर्षशोकादिना परिणमन्ति न तथा भवानिति भावः। ननु रामकृष्णादिप्रादुर्भावैः क्षत्रियत्वादिजात्यादिरपि सुव्यक्तः तथा चोक्तसिद्धान्तभंग इति चेत्तत्राहुः वितथमिति मूलप्रमाणहीनम् अज्ञानां मनोविलासमात्रं त्वयि जात्यादिजीवधर्मं येऽबुधाः पाषंडनिष्ठास्ते ऋतमिति मन्यन्ते न वैदिकसंप्रदायकुशलाः सूर्ये तमः स्थितिःकालत्रयेऽपि न दृष्टश्रुतिगोचरा, तद्वदित्यर्थः।

अपहतपाप्मा कहती हैं। अतः इस विषय में तर्क करने की कुछ गुञ्जायश नहीं है।

यहाँ व्यतिरेकि दृष्टान्त द्वारा भी परमात्मा में अविकृति दिखाई जाती है:—जिस प्रकार जीवों की द्रव्य के ह्रास वृद्धियों के द्वारा और जाति की उत्तमता नीचता के द्वारा अनेकों प्रकार के विकल्पों से हर्ष शोक आदि भावों में परिणति देखी जाती हैं। उन जीवों की भाँति हे प्रभो ! आप परिणत नहीं होते।

ऐसे समाधान करने पर भी कोई शंका कर सकता है कि परमात्मा में भी तो रामकृष्ण आदि अवतारों के रूप में प्रकट होना परिणाम ही है, उनमें क्षत्रियत्व आदि जातियाँ भी स्पष्ट हैं, इसलिये जगत्कारण रूप परमात्मा एकरस अर्थात् अविकृत है इस सिद्धान्त का बाध हो जाता है, ऐसी शंका का भगवती श्रुति "वितथम्" पद से उन्मूलन करती है, अर्थात् ऐसी आशंका मूल प्रमाण से हीन है, ऐसी शंकायें मूर्खों के मनोविलास मात्र हैं, जो अज्ञानी प्रभु में जाति आदि धर्मों को ऋत=सत्य मान लेते हैं वे पाखण्डी हैं। जो वैदिक वाक्यों के विचार में कुशल हैं वे ऐसी शङ्का कभी हृदय में भी नहीं उठा सकते, क्योंकि जिस

अथवैवं योजना इदं भूतभौतिकं कार्यं अग्रे सृष्टेः प्राक् त्वयि साक्षान्नासीन्नापि प्रलयानंतरं भविष्यति यद्यस्मादेवं तस्मादंतरा मध्येऽपि त्वयि मृषैव भाति अयथार्थमेव प्रतीयते कुतः प्रकृतिकार्यस्य कालत्रयेऽपि स्वकारणरूपायां प्रकृतावेव निष्ठत्वात् कार्यस्य कारणे स्थितिनियमाच्च बीजेऽकंरादिवत् तथा च श्रुतिः "नेह ननास्तिकिंचने"त्यादि ब्रह्मणि कार्यसम्बन्धाभावं द्योतयितुं विशिनष्टि एकरसे जन्मादिविकारतत्संबन्धादिशून्ये अत एवेदंद्रविणजातिविकल्पपथैरुपमीयते

प्रकार सूर्य में अन्धकार नहीं रह सकता उसी प्रकार सच्चिदानन्दघन प्रकाश रूप परमात्मा में जात्यादि विकार समूह नहीं रह सकता।

इस श्रुति की दूसरे प्रकार से भी अन्वयादि योजना की जा सकती है :—इदं=यह भूत भौतिक कार्य, अग्रे=सृष्टि से पूर्व, त्वयि—साक्षात् आप में, नहीं था। नापि=न प्रलय के पश्चात् भी (साक्षात्) आप में नहीं रहेगा। यत्=इस कारण, अन्तरा=मध्य में भी आपमें मृषा=अयथार्थ विभाति=प्रतीत होता है। यहाँ प्रश्न हो सकता है कि ऐसा क्यों ? इस जिज्ञासा का यही उत्तर है कि यह दृश्यमान विश्व प्रभु की अपराशक्ति=प्रकृति का कार्य है, कार्य अपने कारण में ही रहता है जब विश्व प्रकृति का कार्य है तो वह उसी में ही रहेगा, जैसा कि अंकुर आदि अपने कारण बीज में रहते हैं।

इसी आशय को "नेह नानाऽस्ति किंचन" इत्यादि श्रुतियाँ ब्रह्म में कार्य के सम्बन्ध का अभाव बतलाकर प्रकट करती हैं। क्योंकि यह "एकरसे" एकरस है। अतः जन्म आदि विकारों से यह सम्बन्धित नहीं है। केवल द्रविण जाति आदि के विकल्प पथों (प्रकारों) से उपमा उपमेय भाव समझना चाहिये। जैसे

द्रव्यस्य ये विकल्पाः परिणामादयः जातेश्च विकल्पाः सांकर्य-नानात्वादयस्तेषां प्रकारैरनित्यत्वपरिणामित्वादिभिस्तुल्यतया निरूप्यते तथा द्रव्यनियतस्वरूपाभावतया परिणामादि युक्ता अनित्याश्च तथेदमपीत्यर्थः। ननु यदि परिणामादिमत्त्वं तर्हि असत्त्वमपि स्वीकार्यमिति चेत्तत्राह ऋतं वस्तु भावरूपं पदार्थं ये वितथं मिथ्या मनोविलासं मनोमात्र कल्पितमित्येवं अवयन्ति निश्चिन्वन्ति तेऽबुधा मूर्खाः॥ तथा च श्रुतिः॥ "असत्यमाहुर्जगदेतदज्ञाः, शक्तिं हरेर्ये न विदुः परां हि। यः सत्यरूपं जगदेतदीदृक् सृष्टवा त्वभूत् सत्यकर्मा महात्मेति। असत्यमप्रतिष्ठं

मृत्तिका सुवर्ण आदि द्रव्यों के घट कटक कुण्डल आदि विकल्प (परिणाम) हैं, जाति में नानात्व सांकर्यत्व आदि विकल्प (जाति-बाधक दोष) हैं, अतः उनकी अनित्यता सिद्ध होती है, परिणामित्व भी उनमें है। अतः वे अनित्य हैं। उसी प्रकार विश्व में भी परिणामित्व अनित्यत्व मान सकते हैं। किन्तु परिणामित्व होने पर भी विश्व को असत् नहीं मान सकते, क्योंकि यह "ऋत" है। वस्तु भाव रूप पदार्थ को भी जो व्यक्ति (वितथ=मिथ्या) मनोविलासमात्र अर्थात् मनः कल्पित मानते हैं—वे अवुध=मूर्ख हैं। इस कथन का "असत्यमाहुर्जगदेतदज्ञाः" इत्यादि श्रुतियाँ और "असत्यमप्रतिष्ठन्ते जगदाहुरनीश्वरम्।" (गी० १६।८) इत्यादि भगवान् की उक्ति ही समर्थन करती है।

व्यतिरेक से भी विश्व की सत्यता ही प्रतिपादित होती है, मिथ्यात्वसिद्ध नहीं होता वह भगवती श्रुति "न चान्यथा कापि च कस्यचम०" और "ऊद्ध्र्वं मूलमधः शाखः०" गी० १५।१ यह स्मृति स्पष्ट रूप से विश्व को अव्यय (सत्) बतला रही है।

इस विश्व को केवल मनोमात्र विलसित भी नहीं कह सकते क्योंकि यह ईश्वर का रचा हुआ है, श्रुति स्पष्ट कहती

ते जगदाहुरनीश्वरम् अपरस्परसंभूतं किमन्यत्कामहैतुकम्" इति भगवदुक्तेश्च। व्यतिरेकेऽपि वितथात्वं निषिध्यते। "अनाद्यनन्तं जगदेतदीदृक् प्रवर्त्तते नात्र विचार्यमस्ति। न चान्यथा क्वापि च कस्य चेममभूत्पुरा नापि तथा भविष्यदिति श्रुत्या "ऊद्ध्र्वमूलमधः शाखमश्वत्थं प्राहुरव्ययमि"त्यादिस्मृतेश्च, नापि मनोमात्रविलसितमिदम् ईश्वरसृष्टत्वात् "तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः संभूतः एतस्माज्जायते प्राणः सन्मूलाः सौम्येमाः प्रजाः नारायणाज्जायते प्राणाः आनन्दाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायंते" इत्यादि श्रुतिप्रतिपादितत्वात्। अत्र केचिज्जगदभावं प्रतिपादयन्ति ते विवेककुशलैः सर्वथोपेक्ष्याः उक्तशास्त्रविरोधात् "मोघज्ञानाविचेतस" इति भगवतैवोपेक्षणीयत्वेनोक्तत्वात् असत्कार्यवादाभ्युपगमे बौद्धमताविशेषाच्चेत्यलं विस्तरेण॥३८॥

है—"तस्माद्वा एतस्मादाकाशः सम्भूतः" "एतस्माज्जायते प्राणः" "सन्मूलाः सोम्य इमाः प्रजा", "नारायणाज्जायते प्राणः", "आनन्दाद्धेव खल्विसानि भूतानि जायन्ते" ऐसी ऐसी अनेकों श्रुतियाँ हैं। कुछ लोग जगत् को अभाव रूप भी मानते हैं किन्तु उनकी सभी विचारक उपेक्षा करते हैं, भगवान ने भी उन्हें मोघज्ञानाः और विचेतसः कहा है। बस अधिक क्या कहा जाय अगर इस विश्व को असत् कार्य मानेंगे तो बौद्धों के समान अभिमत हो जायेगा।

शुकपक्षीय टीकाकार श्रीसुदर्शन सूरि और तत्वदीपिकाकार श्री श्रीनिवास सूरि ने भगवत्कार्य रूप विश्व को मिथ्या माननेवालों की गणना मूर्खों में की है। श्रीजीवगोस्वामीजी ने कहा है कि जो विश्व को मनोविलासमात्र मानते हैं, और जो ऋत शब्द के आधार से विश्व को भगवान् से अत्यन्त अभिन्न

[1]स यदजया त्वजामनुशयीत गुणांश्च जुष-
न्भजति सरूपतां तदनुमृत्युमपेतभगः ।
त्वमुत जहासि तामहिरिव त्वचमात्तभगो ।
महसि महीयसेऽष्टगुणितेऽपरिमेयभगः ।।३८।।

अन्वय—स तु यत् अजया अजां अनुशयीत तत् गुणान् जुषन् सरूपतां भजति तदनु अपेतभगः मृत्युं=(भजति)। त्वं तु आत्तभगः अहिः त्वचमिव तां जहासि अपरिमेयभगः अष्टगुणिते महसि महीयसे।

प्रकारान्तरेण जीवेश्वरयोर्वैलक्षण्यमाहुः "द्वासुपर्णासयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते। तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्योऽभिचाकशीति ज्ञाज्ञौ द्वावजावीशाऽनीशा" इत्यादि श्रुतयः स यदित्यादि यद्यदा स जीवात्माऽजया हेतुभूतया अपेत-

---

मानते हैं वे दोनों ही अवुध हैं। इन शब्दों में वे विश्व और विश्वम्भर में भेदाभेद सम्बन्ध बतलाते हुए तत्वप्रकाशिकाकार के अभिमत को पुष्ट करते हैं।

पदरत्नावलीकार श्रीविजयध्वजतीर्थ ने तो इस श्रुति को जीव में ईश्वरत्व निषेध परक लगाया है ।।३८।।

जीव और ईश्वर का इस श्रुति द्वारा एक दूसरे प्रकार से भी वैलक्षण्य दिखाया जा रहा है—"द्वासुपर्णा०" (कठोपनिषत्) तथा "ज्ञाऽज्ञौद्वावजा०" इत्यादि श्रुतियाँ बतलाती हैं कि जीव जब अजा माया का संग करता है, तब अपेतभग अर्थात् श्रीऐश्वर्य आदि वैभव से विहीन हो जाता है। अविद्या के संयोग से ज्ञान ऐश्वर्य आदि भग अपेत (आवृत) हो जाते हैं। ज्ञान संकुचित हो जाने से जीव अविद्या के कार्यरूप देह आदि विषयों

---

१. स जीवाऽऽत्मा यदा।

भगोऽपेत आवृत्तो भगो भगवदीयषाड्गुण्यं यस्य तथा भूतो भवति तदैवाजामविद्यां स्वज्ञानसंकोचेनान्याभिनिविष्टः तद्गुणानविद्याकार्यभूतान् देहादींश्च जुषन्नहंकारविषयीकुर्वन् तदनुसरूपतां सुखदुःखजन्मादिरूपतां च जुषन् "अहं जातो मरिष्ये" इत्याद्यनुकुर्वन् तदनुमृत्युं भजते निरतिशयप्रमादतां प्राप्नोति, प्रमादं वै मृत्युमहं ब्रवीमी"ति सनत्सुजातः। किंच त्वमुतेति ईश्वरस्यात्यंतवैलक्षण्यद्योतक उतशब्दः। त्वं तु तां जहासि अनादरविषयीकरोषि अनादरविषये दृष्टान्तः, अहिरिव त्वचमिति, तत्र हेतुः आत्तभगः नित्यप्राप्तस्वाभाविकाचिंत्यानन्तैश्वर्य अत एव महसि सर्वैरपि पूज्ये अष्टगुणिते अणिमाद्यष्टविभूतिमति स्वासाधारणैश्वर्य महीयसे ब्रह्मरुद्रेन्द्रादिभिरीश्वरकल्पैः पूज्यसे। "बलिं हरद्भिश्चिरलोकपालैः किरीट-कोटीडितपादपीठः। स्वयमीश्वराणां श्रीमत्किरीटतटपीडितपादपीठ" इत्यादि वच-

---

में अभिनिविष्ट हो जाता है। देह आदि में जीवात्मा का अहंभाव हो जाता है, जिससे जीव अपना जन्म (पैदा होना) एवं मरना आदि का अनुकरण करता हुआ सुख दुःखों को जैसे भोगता है। इसे जीव का प्रमाद ही मानना चाहिये। सनत सुजात (महाभारत) में कहा है कि—"प्रमाद को हम मृत्यु कहते हैं।"

ईश्वर जीव से विलक्षण है यह आशय इस श्रुति के उत शब्द से स्पष्ट होता है। भगवती श्रुति कहती है कि—हे प्रभो! आप तो उस अविद्या को त्याग देते हो, अर्थात् जीव की भाँति उसका आदर नहीं करते। त्यागने का दृष्टान्त दिया जाता है, जैसे सर्प अपनी कंचुकी को छोड़ देता है। उस त्याग में हेतु यह है कि आप आत्तभग हैं अर्थात् आप स्वाभाविक अचिन्त्य अनन्त ऐश्वर्यवान् हैं, अतएव ब्रह्मा, शंकर, इन्द्र आदि ईश्वर कल्प देवों से भी आप पूजे जाते हैं। श्रीमद्भागवत के "बलिं हरद्भि०"

नात् तवैश्वर्यस्य सातिशयत्वं वारयति :—अपरिमेयभगः ॥ अपरिमेय इयत्तापरिच्छेदशून्यो भगोऽचिंत्यमैश्वर्यं यस्य सः "तमीश्वराणां परमं महेश्वरं तं देवतानां परमं च दैवतं, न तत्समश्चाभ्यधिकश्च दृश्यते पराऽस्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रियाचे" त्यादि श्रुतेः, "नत्वत्समोऽस्त्यभ्यधिकः कुतोऽन्योलोकत्रयेप्यप्रतिमप्रभाव" इति स्मृतेश्च ॥३९॥

यदि न समुद्धरन्ति यतयो हृदि कामजटा-
दुरधिगमोऽसतां हृदि गतोऽस्मृतकण्ठमणिः ।
असुतृपयोगिनामुभयतोऽप्यसुखं भगव-
न्ननपगतांतकादनधिरूढपदा[1] द्भवतः ॥४०॥

अन्वय—हे भगवन् यदि यतयः हृदि कामजटाः न समुद्धरन्ति (तेषां) असतां हृदि गतोऽपि (त्वं) अस्मृतकंठमणिः इव दुरधिगमः अतः भवतः अनधिरूढपदात् अनपगतान्तकात् असुतृप योगिनाम् उभयतः अपि असुखम् (एव) ।

इत्यादि वचन इसी भावना का स्पष्टीकरण करते हैं । आपके ऐश्वर्य में सातिशयत्व नहीं है, क्योंकि आप अपरिमेय भगवाले हैं। आपका ऐश्वर्य इतना ही है—यह नहीं कहा जा सकता, अधिक क्या आपके ऐश्वर्य की इतिश्री का चिन्तन तक भी किया जाना कठिन है । तमीश्वराणां परमं महेश्वरम्० । तं देवतानां परमञ्च दैवतम्० । न तत्समश्चाभ्यधिकश्च दृश्यते० । इत्यादि श्रुतियाँ और "न त्वत्समोऽस्त्यभ्यधिकः कुतोऽन्य०" इत्यादि स्मृति (गीता) के वाक्य भी हमारे कथन के पोषक उपलब्ध हो रहे हैं ॥३९॥

---

१. पद्यतेऽनेनेति पदम्—अनधिरूढम्-अप्राप्यं च तत्पदं साधनं च तस्मात् ।

इदानीं पूर्वोक्तस्वरूपकाद्भगवतः पराङ्मुखानां वांताशिनां निष्ठामाहुः श्रुतयः "कामान्यः कामयते मन्यमानः सकर्मभिर्जायते तत्र तत्रे" त्याद्याः । यदीति एवंभूतानां पतितानां पावने तवैव सामर्थ्यं शीलं चेति कृपामाविष्कारयंत्यः संबोधयन्ति हे भगवन्निति । ये यतयः यतिवेशविडम्बकाः योगच्छद्मना मुण्डशिरस्का हृदि कामजटाः न समुद्धरंति अन्तर्भोगवासनां न मुञ्चन्ति । तेषामसतां हृदि गतोऽपि भवान् दुरधिगमः दुःप्राप्यः । तत्र दृष्टान्तगर्भितविशेषणम् ॥ अस्मृतकण्ठमणिः ॥ अस्मृतः कण्ठे वर्त्तमानो मणिर्यथा तद्वदित्यर्थः । न केवलमियदेव दुःखं, किन्तु अपरमपीत्याहुः :—असुतृपेति ॥ असुतृपाणामिन्द्रियतृप्तिकामानां योगिनां योगच्छद्मपरिच्छन्नानां विषयाच्छादित-

---

अब पूर्वोक्त स्वरूपवाले भगवान् से विमुख वान्ताशियों (कुत्तों) के समान आचरण करनेवाले दुष्कर्मियों की निष्ठा दिखाई जा रही है—श्रुति भगवती कहती है कि हे भगवन् ! जो कामनाओं की पूर्ति के चक्कर में पड़कर उत्तरोत्तर कामना करते रहते हैं, वे उन कर्मों के अनुसार जहाँ-तहाँ जन्मते हैं, उन पतितों को पवित्र करने में हे प्रभो ! आपका ही सामर्थ्य और शील स्वभाव है । इस प्रकार कृपा का आविर्भाव कराती हुई श्रुति सम्बोधित करती है, हे भगवन् इति । जो व्यक्ति यतियों के वेषधारी, शिर मुंडाये हुए अथवा घटाटोप जटाजूटवाले होकर भी हृदय में उद्भूत होनेवाली कामनाओं की जटाओं का समुद्धार नहीं करते, अर्थात् भोग बासनाओं को नहीं छोड़ते, उन असत् व्यक्तियों के हृदय में निवास करते हुए भी आप उनको प्राप्त नहीं होते जिस प्रकार भूले हुए व्यक्ति को कण्ठ में बँधी हुई मणि नहीं मिलती । इतना ही नहीं इन्द्रियों की तृप्ति में ही लगे हुए तथा बिषय-वासनाओं से जिनकी बुद्धि पर पर्दा

बुद्धीनामुभयतोऽतिदुःखमेव। भवत अनपगतान्तकात् अनपगतश्चासौ अन्तकश्च तस्मात् अनिवृत्तिकालरूपात्। परलोके भयमनधिरूढपदात् अप्राप्तभोगसाधनादस्मिल्लोकेऽपि दुःखमेवेति। उभयत्र सुखाभावे सति कुतस्तरां संसारनिवृत्तिसाधनगंधस्याऽऽशाऽपीति भावः ॥४०॥

पड़ा हुआ है उनको न इस लोक में सुख मिलता न परलोक में ही, क्योंकि आपकी सन्निधि शरणागति प्राप्त न होने से मृत्यु का भय सदा बना ही रहेगा। और भोगों को भोगते रहने के कारण भोग-वासनायें निवृत्त नहीं हो सकेंगी, अपितु प्रज्वलित ज्वाला में घी डालने पर जिस प्रकार ज्वाला और दधकती है उसी प्रकार ये कामवासनायें बढ़ती ही रहेंगी जिससे इस लोक में भी उसे सुख नहीं मिल पायेगा। जब सामान्यतया लोक-परलोक में सुख ही नहीं मिल पायेगा, तब संसार से निवृत्त होनेवाले साधन की तो आशा गन्धमात्र भी नहीं की जा सकती।

इस श्रुति के तीन पद तो बड़े सरल स्पष्ट अर्थवाले हैं किन्तु अन्तिम पद के "अनपगतान्तकात् और अनधिरूढ़पदात्" ये दोनों हेतुप्रदर्शक पद जटिलतापूर्ण हैं। विभिन्न-विभिन्न टीकाकारों ने इसके भिन्न-भिन्न अर्थ किये हैं। "उभयतोऽप्यसुखम्"= इसके तात्पर्य दिखाने में प्रायः सभी टीकाकार एकमत (असुतृप योगियों को न इस लोक में सुख है और न परलोक में ही) है। अनपगतान्तकात् पद से इस लोक में मृत्युभयरूप असुख और उसी पद से परलोक में नरक प्राप्तिरूप असुख सिद्ध किया है अनधिरूढपदात् से कामवासनाओं के समूल उन्मूलन का यतन करनेवाले योगी (सन्यासी) ही भगवतस्वरूपानन्द लाभ ले सकते हैं। यह तात्पर्य काशी के विद्वद्वर पौराणिक श्रीराममूर्तिजी ने प्रदर्शित किया है। तत्वप्रकाशिकाकार श्रीकेशवकाश्मीरी भट्टा-

त्वदवगमी[1] न वेत्ति[2] भवदुत्थशुभाशुभयो-
र्गणविगुणान्वयांस्तर्हि न देहभृतां च गिरः।
अनुयुगमन्वहं सगुणगीतपरम्परया
श्रवणभृतो यतस्त्वमपवर्गगतिर्मनुजैः ॥४१॥

अन्वय—(हे प्रभो!) त्वदवगमी भवदुत्थ शुभाशुभयोर्गुणविगुणाऽन्वयान् न वेत्ति (यद्येवं) तर्हि देहभृतां च गिरः (न वेत्ति)। यत मनुजैः अनुयुगं अन्वहं श्रवणभृतः त्वं अपवर्गगतिः भवसि (कया) सगुणगीत परम्परया।

"नन्वेष महिमा ब्राह्मणस्य न कर्मणा वर्द्धते नो कनीयानि" त्यादिभिः श्रुतिभिः स्तुत्यानां न गुणदोषभाक्त्वं किमिति निंदन्तीत्याशंक्य, न वयं यतीन्निन्दयामः किंतु असुतृपाणामिति। तद्भ्रान्ति वारणाय तल्लक्षणमाहुः॥ त्वदवगमीति ॥ तव

चार्यजी के अभिमत को भी आपने केचित्तु कहकर प्रदर्शित किया है। उनकी पंक्तियों की अक्षरराशी भी उद्धृत कर दी है। अन्यत्र भी कई स्थलों में पौराणिकजी ने ऐसा किया है ॥४०॥

पूर्वोक्त श्रुति में जो यतियों की आलोचना की गई है, इस सम्बन्ध में ऐसी श्रुतियाँ भी मिलती हैं कि ब्राह्मण की ऐसी महिमा है कि वह न किसी सत्कर्म से बढ़ती है और न किसी दुष्कर्म से घटती ही है, ऐसी स्तुतिवाले ब्राह्मण एवं यतिजन गुण-दोष के भागी नहीं माने जाते, तब उनकी निन्द क्यों की गई। इस शंका का निराकरण करती हुई इस ४१वीं श्रुति का कथन है कि—हम भी सच्चे यतियों की निन्दा नहीं करती हैं उन्हीं की निन्दा करती हैं जो देहेन्द्रिय प्राण आदि की तृप्ति में ही निरत रहते हैं।

---

१. ज्ञानी। २. परमेश्वरात्।

भगवतो ब्रह्मणः परमेश्वरस्यावगमो ज्ञानं जगत्कारणत्वशास्त्रयोनित्वसर्वज्ञत्वसर्वनियंतृत्वस्वप्रकाशत्वादिगुणवतो भगवतो ज्ञानं विद्यतेऽस्येति त्वदगमी। "यतोवा इमानि भूतानि जायन्ते, सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति यः सर्वज्ञः सर्ववित् सर्वस्य वशी सर्वस्येशानः, तमेव भान्तमनुभाति सर्वमि"त्यादिश्रुतेः। भवद्दुत्थशुभाशुभयोर्गुणविगुणान्वयान्न वेत्ति। भवतः परमेश्वरादाविर्भूतयोरनादिपुण्यापुण्यकर्मणोर्गुणविगुणान्वयान् सुखदुःखात्मकफलसंबन्धान्न जानाति नास्य तत्स्फूर्त्तिरिति भावः। यद्येवं तर्हि देहभृतां गिरः निंदास्तुतिलक्षणा न वेत्तीति का कथा। न चात्रानुपपत्तिशङ्कागन्ध इत्याहुः। यद्यस्मान्मनुजैरनुयुगं तत्राप्य-

---

भ्रान्ति-निवारण के लिये अब "त्वदवगमी" इस श्रुति द्वारा उन्हीं यतियों के लक्षण बतलाया जा रहा है, जिनको यह दृढ़ ज्ञान है कि परब्रह्म परमेश्वर श्रीसर्वेश्वर जगत् के कारण हैं, शास्त्रयोनि अर्थात् शास्त्र के द्वारा जानने योग्य हैं सर्वज्ञ हैं, सबके नियन्ता हैं, स्वप्रकाश स्वरूप हैं वे ही त्वदवगमी कहे जा सकते हैं। इस कथन को "यतो वा इमनि भूतानि जायन्ते०" सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति०, यः सर्वज्ञः सर्ववित्०, सर्वस्य वशी सर्वस्य ईशान०, तमेव भान्तमनुभाति सर्वम्० इत्यादि श्रुतियाँ भी पुष्ट करती हैं। ऐसे अवगमी (ज्ञाता) ही जन्म-जन्मान्तरों के शुभ-अशुभ कर्मों के अनुसार आपके द्वारा प्रदत्त गुण-विगुण, सुख-दुःख रूप फलों कों नहीं जानते भोगते अर्थात् सुखद फलों से न हर्षित होते, न दुःखद फलों से दुःखी होते, उन्हें सांसारिक सुख-दुःखों की स्फूरणा नहीं होती। ऐसी स्थिति में देहधारियों द्वारा की हुई निन्दास्तुति से उनके प्रभावित हो जाने की तो बात ही नहीं सोची जा सकती। यहाँ किसी प्रकार की अनुपपत्ति की आशंका भी नहीं करना चाहिये, क्योंकि प्रत्येक युग में तथा

न्वहंअव्युच्छिन्नसंप्रदायं यथा स्यात्तया श्रवणभृतस्त्वं श्रवणमार्गेण हृदि प्रवेश्य ध्यातस्त्वं सर्वज्ञो भगवान् तेषां ध्यातृणामपवर्गगतिर्भवसि, अपवर्गस्य गतिर्मोक्षमार्गस्तत्प्रापको दातेति यावत्॥ कयेति आशंक्यावैदिकत्वव्यावृत्त्यर्थं संप्रदायस्वरूपमाहुः। सगुणगीतपरम्परयेति। सगुणस्य स्वाभाविकाचिंत्यसद्गुणादिगुणवतस्तव गीतं गानं ध्येयज्ञेयतया कीर्त्तनं यस्यां सा चासौ परम्परा चेति तया॥ "मच्छिष्यैः सनकादिभि" रित्यादि स्वयमेव साभिमानवाक्येन श्रीभगवतोद्धवं प्रति वक्ष्यमाणयेत्यर्थः॥४१॥

द्युपतय एव ते न ययुरन्तमनंततया
त्वमपि यदन्तराण्डनिचया ननु सावरणाः।

प्रत्येक दिन क्षण-क्षण में ध्याताओं के कर्णरंध्रों द्वारा अन्दर प्रविष्ट होकर अपवर्ग (मोक्ष) मार्ग को दर्शा देते हैं। यहाँ वही परम्परा जिज्ञासित है, उसी का स्पष्टीकरण "सगुण गीतपरम्परया" वाक्य से किया गया है। अर्थात् स्वाभाविक अचिन्त्य सद्गुण समुद्र आप ही जिनके ध्येय और ज्ञेय हैं, अतएव आपका ही गुण-गान कथन कीर्तन करने की उनकी परम्परा चली आ रही है। भगवान् आगे (श्रीमद्भागवत एकादश स्कन्ध में) जो "मच्छिश्यैः सनकादिभिः" कहेंगे वह उसी परम्परा का संकेत किया जायगा।

कुछ टीकाकारों ने "सगुण गितपरम्परया, पद के अंश" सगुण को सम्बोधन मान लिया है। वास्तव में विचार किया जाय तो समग्र वेदस्तुति है ही सगुण ब्रह्मपरक॥४१॥

ख इव रजांसि वांति वयसा सह[1] यच्छ्रु ुतय-
स्त्वयि हि भप्रन्त्यतन्निरसने न [2]भवन्निधनाः ॥४२

अन्वय—द्यु पतय एव ते अन्तं न ययुः (कुतः) अनन्ततया त्वं अपि (नवेत्सि) यत् अन्तरा अण्डनिचयाः वयसा सह खे रजांसि इव वान्ति ।

इदानीं श्रीभगवतोऽपरिमितैश्वर्यं प्रतिपादयन्त्य उपसंहरन्ति **श्रुतयः "यऊर्ध्वं गार्गि देवो यदर्वाक् पृथिव्या** यदन्तरा **द्यावापृथिवी इमे यद्भूतं च भवच्च भविष्यच्च** कोऽद्धा वेद **यत आवभूव योऽस्याध्यक्षः परमे व्योमन् सोंऽग वेद** यदि वा **न वेद, न तस्य कश्चित्पतिरस्ति लोके न वेदिता नैव च** तस्य **लिंगम्" त्याद्याः ॥ द्युपतय इति ।। द्युपतयो ब्रह्मरुद्रेन्द्रादयो लोकपालास्ते तव सर्वेश्वरेश्वरस्यान्तं न ययुः । भवतः स्वरूप-**

अब भगवान् के अपरिमित ऐश्वर्य का प्रतिपादन करती हुई श्रुतियाँ उपसंहार कर रही हैं । द्युतपय इत्यादि वाक्यसमूह द्वारा य ऊर्ध्वं गार्गि देवो यदर्वाक् पृथिव्या, यदन्तराद्यावा पृथिवी इमे, यद्भूतं च भवच्च भविष्यच्च को अद्धा वेद यत आवभूव० इत्यादि श्रुतियाँ भी इसी श्रुति के तात्पर्य को दिखलाती हैं— अर्थात् हे गार्गि ! जो आकाश के ऊपर पृथ्वी के नीचे और दोनों के बीच में है, भूतकाल में भी था आगे भी रहेगा, वह कब कहाँ से उद्भूत हुआ, जो इस दृश्यादृश्यात्मक समस्त विश्व का अध्यक्ष है उसे कौन जान सकता है, न उसका पति है न कोई जानकार ही है न उसका कोई चिह्न ही है । इसे अच्छी प्रकार से ब्रह्मा रुद्र इन्द्र आदि लोकपाल नहीं जान पाये हैं । तात्पर्य यह है कि

१. एकदा एव । २. स्वरूपेतरपदार्थस्य स्वरूपत्वनिषेधेन भवद्विषयका एव सर्वा श्रुतयः ।

गुणकर्मशक्तिनाम्नामन्तमियत्तां न प्रापुः ॥ "नते विष्णोर्जायमानो न जातो देवस्य महिम्नः परमं तमाप, विष्णोर्नु कं वीर्याणि प्रावोचं यः पार्थिवानि विममे रजांसी" त्यादिश्रुतिभ्यः "मांतु वेद न कश्चने"ति भगवदुक्तेश्च । आस्तां ब्रह्मादीनां वार्त्ता त्वमपि स्वस्यान्तं न वेत्सि, तर्हि पूर्वोक्तसर्वज्ञत्वादीनां हानेरज्ञत्वाद्यापत्तेश्च निंदैव भवतीभिः क्रियते, इति चेत्तत्राहुः ॥ अनन्ततयेति ॥ अंतस्यात्यंताभावतया शशविषाणताडनक्षताद्दर्शने

वैसे तो सभी थोड़ी बहुत जानकारी रखते ही हैं, परन्तु हे सर्वेश्वर प्रभो ! आपके स्वरूप गुण कर्म शक्ति और नामों का अन्त (इयत्ता) किसी को भी नहीं मिला । इसी आशय को "न ते विष्णोर्जायमानो न जातो देवस्य महिम्नः परमं तमाप०" विष्णोर्नु कं वीर्याणि प्रावोचं, यः पार्थिवानि विममे रजांसि० इत्यादि श्रुतियाँ भी पुष्ट करती हैं, चाहे पृथ्वीस्थ रज के अपार अगणित कणों को कोई भले ही गिन ले परन्तु विष्णु (परब्रह्म) की महिमा और गुणों का अन्त किसी को नहीं मिल सकता । भगवान् ने भी कह दिया है कि मैं सबका रहस्य जानता हूँ परन्तु मेरे रहस्य को कोई भी नहीं जान पाता । इतना ही नहीं ब्रह्मा रुद्र इन्द्र आदि को छोड़िये वास्तव में तो स्वयं प्रभु भी अपने ऐश्वर्य (महिमा) का अन्त अर्थात् इतना ही ऐश्वर्य है ऐसी इयत्ता को नहीं जानते ।

हैं ! हैं ! हैं ! यह क्या कहा ? यदि स्वयं भगवान् भी नहीं जानते होंगे तब फिर उन्हें आप सर्वज्ञ क्यों बतलाती हो, और उस सर्वज्ञ को अज्ञ (अनजान) कहकर क्या उसकी निन्दा नहीं करती हो ? यदि कोई ऐसी शंका करे या श्रुतियों पर आरोप लगावे तो श्रुति भगवती कहती है—हम क्या करें, उनका ऐश्वर्य है ही अनन्त । उसकी अन्त का अत्यन्ताभाव है, जैसे कोई

गगनकुसुमगन्ध घ्राते च न चक्षुर्घ्राणयोर्हानिर्यथा तद्वत् । तथाभूतस्यैश्वर्यलेशगंधस्य दिग्दर्शनेनांतत्वं लक्षयन्ति :—यदन्तरा यस्य भगवतः अत्यल्पैकदेशविशेषावरणाः उत्तरोत्तरदशगुणसप्तावरणयुक्ताः तथा च "एते सप्त मया लोका मैत्रेय कथितास्तव । पातालानि च सप्तैव ब्रह्माण्डस्यैव विस्तरः । एतदंडकटाहेन तिर्यगूर्द्ध्वमधस्तथा । कपित्थस्य यथाबीजं सर्वतोवै समावृतम् । दशोत्तरेण पयसा मैत्रैयाण्डं च तद्वृतं । स चाम्बुपरिधानोऽसौ वह्निन वेष्टितो बहिः । वह्निश्च वायुना वायुर्मैत्रेय नभसा वृतः । भूतादिना नभः सोऽपि महता परिवेष्टितः दशोत्तराण्यशेषाणि मैत्रेयैतानि सप्तवै । महांतं च समावृत्य प्रधानं समवस्थितम् ।

यह कहे कि—खरगोश का सींग मेरी छाती में घुस गया मैं बड़ा दुःखी हूँ, अथवा कोई यह कहे कि—आकाश के फूलों की गन्ध से मेरे घ्राण (नाक) में घाव हो गये और उसी से नेत्रों की ज्योति चली गई । इस कथन पर कौन-सा बुद्धिमान विश्वास करेगा, क्योंकि खरगोश के सींग और आकाश के फूल दोनों का ही अत्यन्ता भाव है, न खरगोश के कभी सींग देखा गया और न आकाश के फूल किसी ने देखे, न देख सकेगा । उसी प्रकार परमात्मा के गुण शक्ति आदि ऐश्वर्य का अन्त (पार इयत्ता) न किसी ने जाना है न कोई जान ही सकेगा, क्योंकि उसका अन्त (इयत्ता) है ही नहीं । उसी अनन्त ऐश्वर्य्य के कुछ लेशमात्र ऐश्वर्य की जहाँ-तहाँ इयत्ता को लक्षित करके वर्णन किया गया है—"यदन्तरा" अर्थात् जिस प्रभु के अत्यन्त अल्प एक देश विशेष में आवरण दिखाये जाते हैं । विष्णुपुराण में मैत्रेय ऋषि को कहा है कि ये भूःभुव आदि सात लोक आपको बतलाये हैं, ऐसे पाताल आदि सात लोक हैं । ये सब ब्रह्माण्ड के विस्तार रूप हैं, ऊपर नीचे इधर उधर बहुत से लोक हैं । जिस प्रकार

अनन्तस्य न तस्यांतः संस्थानं चापि विद्यते । तदनन्तमसंख्यातप्रमाणं चापि वै यतः । हेतुभूतमशेषस्य प्रकृतिः सा परा मुने ।" इत्यादि वैष्णवे पराशरोक्तिः अण्डनिचयाः उक्तप्रकारकाणां ब्रह्माण्डानां समूहाः वयसा वांति त्वत्कालरूपया शक्त्या प्रेरिताः परिभ्रमन्ति । तत्र दृष्टान्तः खे रजांसीव, आकाशे परमाणव इव, ननु कालभेदेनैतत्संगच्छते संकुचितपथि उष्ट्रसमुदाय इव इति चेत्तत्राह ॥ सहेति ॥ एकदैवेत्यर्थः तदेवाह श्रीपराशरः "अण्डानां तुसहस्राणां सहस्राण्ययुतानि च । ईदृशानां तथा तत्र कोटिकोटिशतानि चे"ति । रामायणेऽपि सुन्दरकाण्डे त्रिजटावाक्यम् ॥ "साण्डं सर्वं त्रिभुवनं सर्वतः सचराचरं सर्वं ग्रस्तं

कपित्थ के फल में बीज चारों ओर से आवृत रहते हैं, उसी प्रकार दश गुणित आवरण से सभी ब्रह्माण्ड आवृत रहते हैं । पार्थिव ब्रह्माण्ड जल से (समुद्र से) आवृत रहते हैं, समुद्र तेज से, तेज वायु से, वायु आकाश से, आकाश भूतादि अहंकार से, अहंकार महत्तत्व से और महत्तत्व को आवृत करके प्रधान स्थित रहता है । वह परा प्रकृति (प्रधान) सभी का हेतु है, इस प्रकार विष्णुपुराण में श्रीपाराशरजी ने अण्ड समूह का वर्णन किया है । उपर्युक्त भगवान् की कालरूप शक्ति के द्वारा आकाश में जिस प्रकार रज के कण घूमते हैं उसी प्रकार ब्रह्माण्ड समूह घूमते हैं । मानों परिमाणु घूम रहे हों ।

यहाँ एक जिज्ञासा हो सकती है कि एक समय में एक ब्रह्माण्ड दूसरे समय दूसरा और तीसरे समय में तीसरा इस प्रकार कालभेद से ब्रह्माण्ड समूह का परिभ्रमण होता होगा, जैसे एक सकड़े से मार्ग में ऊँटों की कतार एक-एक करके आ-जा सकती है । इस जिज्ञासा का श्रुति भगवती समाधान करती है कि नहीं, सह=एक साथ । बाल्मीकीय रामायण सुन्दरकाण्ड में त्रिजटा ने

मया दृष्टं रामेणाक्लिष्टकारिणे"ति ।। यस्मादेव न परिमितैश्वर्यं-
स्त्वमसि, अतः श्रुतयस्त्वय्येव फलंति त्वयि समन्वयन्तीत्यर्थः।
कानिचित् सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म यः सर्वज्ञः सर्वविदित्यादीनि
वाक्यानि मुख्यया वृत्त्या स्वरूपप्रतिपादनेन कानिचिदस्थूल-
मनणुनेती"त्यादीनि चातन्निरसनेन स्वरूपेतरपदार्थस्य स्वरूपत्व-
निषेधेन ।। "आकाशोहवै नामरूपयोर्निर्वहते"त्यादीनि च
रूढ्याऽन्यत्र प्रसिद्धान्यपि योगेन त्वयि समन्वयन्तीत्यर्थः ।।
मय्येव फलन्तीति को नियम इति चेत्तत्राहुः ।। भवन्निधनाः ।।
भवत्येव सर्वज्ञे सर्वकारणकारणे स्वयंकारणशून्ये निधनमवसानं

इसी आशय का स्पष्टीकरण किया है—ब्रह्माण्ड सहित त्रिभुवन सभी चराचर को अक्लिष्ट कर्म करनेवाले भगवान् श्रीराम में मैंने देखा है। अतएव हे प्रभो ! आप परिमित ऐश्वर्यवान् नहीं हैं अपितु अपरिमित ऐश्वर्यवान् हैं, इसलिये श्रुतियाँ आपके अन्दर ही पहुँचकर कृतार्थ होती रहती हैं ।

उन श्रुतियों में कुछ तो ऐसी हैं जो मुख्य वृत्ति द्वारा ही आपका प्रतिपादन करती हैं, जैसे—"सत्यं ज्ञान मनन्तं ब्रह्म", और कुछ श्रुतियाँ ऐसी हैं जो स्वरूप से इतर वस्तु का कोई स्वरूप परत्व अर्थ लगावे तो वह अनुचित बतलाकर तात्पर्य दिखानेवाली श्रुतियाँ हैं, जैसा "आकाशो हवै नाम रूपयो र्निर्ह-हिता" यह श्रुति आकाश शब्द से प्रतिपादित नामरूप का निर्वहन करनेवाला भूताकाश को यद्यपि ब्रह्म बतला रही है, तथापि वह भूताकाश ब्रह्म नहीं हो सकता, क्योंकि उत्पत्ति और विनाशशील है। रूढ़ि वृत्ति से तो यहाँ का आकाश शब्द भूताकाशपरक है ही, योगिक वृत्ति से परमात्मा में भी यह श्रुति समन्वित हो सकती है। "आ समन्तात् कासते प्रकाशते इत्याकाशः" भगवान कदाचित् पूछें कि मुझ में ही समस्त श्रुतियाँ समन्वित हों यह ऐसा

यासां ताः, भवद्विषयका एव सर्वाः श्रुतय इत्यर्थः "सर्वे वेदा
यत्पदमामनन्ति वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्य" इत्यादि शास्त्र-
वचनात् । एतच्च समन्वयाध्याये निपुणं प्रपंचितं विस्तरभयादु-
परम्यते ।।४२।।

श्रीभगवानुवाच—

इत्येतद्ब्रह्मणः पुत्रा आश्रुत्यात्मानुशासनम्,
सनन्दनमथानर्चुः सिद्धा ज्ञात्वाऽऽत्मनो गतिम् ।।४३।।
इत्यशेषसमाम्नाय[1]पुराणोपनिषद्रसः,
समुद्धृतः पूर्वजातैर्व्योमयानै र्महात्मभिः ।।४४।।

क्या नियम है ? इसका उत्तर देती हैं कि "भवन्निधना" सभी श्रुतियाँ किसी न किसी प्रकार से आप में ही लग जाती हैं। उनका निधन (उपसंहार) आप में हो होता है। "सर्वे वेदा यत्पद मामनन्ति" ऐसी श्रुतियाँ हैं। आप स्वयं भी तो यही कहते हैं—"वेदैश्च सर्वै रहमेव वेद्यः" समस्त वेद मेरा ही वर्णन करते हैं। गीता० १५,१५ इत्यादि श्रुतिस्मृतियों के वचनों से हमारा कथन सिद्ध होता है। यह विषय समन्वयाध्याय (ब्र०सू० प्रथम अध्याय) में अच्छी प्रकार से समझाया गया है, यहाँ अधिक विस्तार न करके अब यहाँ ही विश्राम लिया जाता है ।।४२।।

श्रीनारायण भगवान् ने कहा कि—हे नारदजी ! इस प्रकार आत्म अनुशासन=भगवत्सम्बन्धी उपदेश को अच्छी प्रकार से सुनकर पूर्ण मनोरथवाले सिद्ध सनकादिकों ने आत्म-गति=जीवों के लिये भगवत्प्राप्ति का उपाय जानकर सनन्दनजी की पूजा की सम्मान किया।

---

१. अशेषसमाम्नायेति अशेषवेदपुराणादीनां सारः।

अन्वय—इति ब्रह्मणपुत्राः आत्माऽनुशासनम् आश्रुत्य आत्मनः गतिं ज्ञात्वा सिद्धाः अथ सनन्दनं आनर्चु इति पूर्वजातैः व्योमयानैः महात्मभिः अशेष समाम्नाय-पुराणोपनिषद्रसः समुद्धृतः।

त्वं चैतद्ब्रह्मदायाद[1] श्रद्धयात्माऽऽनुशासनं।
धारयं श्चर गां कामं कामानां भर्ज्जनं नृणाम् ।।४५।।

अन्वय—ब्रह्मदायाद ! एतद् नृणां कामानां भर्जनम् आत्माऽनुशासनम् त्वं च श्रद्धया धारयन् कामं गां चर।

श्रीशुकउवाच—

एवं स्वगुरुणाऽऽदिष्टं गृहीत्वा श्रद्धयाऽऽत्मवान्,
पूर्णः श्रुतधरोराजन्नाह वीरव्रतो मुनिः ।।४६।।

अन्वय—हे राजन् ! आत्मवान् पूर्णः श्रुतधरः वीरव्रतः मुनिः स्वगुरुणा आदिष्टं श्रद्धया गृहीत्वा एवं आह।

हे नारदजी ! आपके पूर्वज महात्मा जो सर्वदा आकाश में विचरण करते थे, समस्त वेद उपनिषद् पुराण आदि शास्त्रों का रस (निष्कर्ष) निकाल कर रख दिया है। अर्थात् सभी शास्त्र श्रीकृष्ण के ही प्रतिपादक हैं ।।४३-४४।।

इसलिये हे ब्रह्मदायाद ! तुम भी इसी समस्त वासनाओं को निवारण करनेवाले आत्म अनुशासन (निष्कर्ष) को श्रद्धापूर्वक हृदय में धारण कर इच्छानुसार मुख से यशोगान करते हुए पृथ्वी पर विचरण करते रहो ।।४५।।

श्रीशुकदेवजी कहते हैं कि—हे राजन् ! इस प्रकार ऋषि श्रीनारायण के उपदेश को श्रद्धापूर्वक सुनकर आत्मवान् पूर्ण-श्रुतधर वीरव्रत मुनि नारदजी श्रीनारायण के प्रति बोले–।।४६।।

---

१. ब्रह्मदायाद ब्रह्मपुत्र।

श्रीनारदउवाच—

नमस्तस्मै भगवते कृष्णायामलकीर्त्तये।
यो धत्ते सर्वभूतानामभवायोशतीः कलाः ।।४७।।

अन्वय—तस्मै अमलकीर्तये भगवते कृष्णाय नमः यः सर्वभूतानां अभवाय उशतीकलाः धत्ते।

श्रीनारदश्च श्रीमन्नारायणोपदिष्टं वेदविषयं स्वानुभवेन वक्ति ।। नम इति ।। कृष्णाय सदानन्दघनाय भगवते स्वाभाविकाचिन्त्यानन्तभगं विद्यतेऽस्य तस्मै "स्वाभाविकी ज्ञानबल-क्रिया चे"ति ।। श्रुतेः तथा च वैष्णवे ।। "शुद्धे महाविभूत्याख्ये परे ब्रह्मणि वर्त्तते। मैत्रेय भगवच्छब्दः सर्व कारणकारण" इति ।। अमलकीर्त्तये ।। अमला जगत्पावनी कीर्त्तिर्यस्य तस्मै।

नारदजो कहते हैं—स्वच्छ कीर्तिवाले उन भगवान् श्रीकृष्ण को नमस्कार है, जो समस्त जीवों के अभव (मुक्ति) के लिये उशती कला सुन्दर नाना अवतारों को धारण करते हैं। आप (श्रीनारायण) भी उन्हीं के रूप हैं। अतः आपको भी नमस्कार है।

श्रीमन्नारायण ने समस्त वेदों के साररूप का जो उपदेश किया था उसी को श्रीनारदजी कहते हैं—उन सदा आनन्दघन भगवान् श्रीकृष्ण को नमस्कार है, जिनमें स्वभाव से ही समस्त भग रहते हैं। श्रुतियाँ उनके ज्ञान शक्ति, बल शक्ति और क्रिया शक्ति आदि सभी शक्तियों को स्वाभाविकी बतलाती हैं।

श्रीपराशर ऋषि ने भी विष्णुपुराण में यही प्रकट किया कि—हे मैत्रेय शुद्ध महाविभूतिस्वरूप समस्त कारणों के कारण परात्पर परब्रह्म ही भगवत् शब्द के वाच्य हैं। उनकी कीर्ति अमल (स्वच्छ) है जो समस्त जगत् को भी पवित्र कर सकती

तदेव विवृणोति यो भूतानां संसारनिवृत्तये मोक्षप्रदानाय उशतीः कलाः लीलावताराख्या धत्ते इत्यनेन प्रथमस्कन्धोक्तस्य "कृष्णस्तु भगवान् स्वयमि"त्यस्योपक्रमस्योपसंहारो ज्ञापितः ॥४७॥

इत्याद्यमृषिमामन्त्र्य तच्छिष्यांश्च महात्मनः ।
ततोऽगादाश्रमं साक्षात्पितुर्द्वैपायनस्य मे ॥४८॥

अन्वय—इति आद्यं ऋषिं महात्मनः तच्छिष्यांश्च आमन्त्र्य ततः मे साक्षात् पितुः द्वैपायनस्य आश्रमं अगात् ।

सभाजितो भगवता कृतासनपरिग्रहः ।
तस्मै तद्वर्णयामास नारायणमुखाच्छ्रुतम् ॥४९॥

अन्वय—भगवता सभाजितः कृतासनपरिग्रहः नारायणमुखात् (यत्) श्रुतं तद् तस्मै (व्यासाय) वर्णयामास ।

है। इसी आशय को श्रुति का उत्तरार्ध भाग वर्णन करता है—प्राणियों के जन्म-मरणरूप संसार की निवृत्ति के लिये अर्थात् मोक्ष प्रदान करने के लिये जो प्रभु लीलावताररूप सुन्दर कलाओं को धारण करता है:—इस कथन से जो प्रथम स्कन्ध में "कृष्णस्तु" भगवान् स्वयं यह उपक्रम किया गया था उसी का यहाँ यह उपसंहार दिखा दिया गया है ॥४७॥

इस प्रकार नारदजी आद्य ऋषि श्रीनारायणजी तथा भगवान् में पूर्ण निष्ठा रखनेवाले उनके शिष्यों को भी नमन करके साक्षात् मेरे (शुकदेवजी के) पिता द्वैपायनजी (व्यासजी) के आश्रम में गये ॥४८॥

व्यासजी द्वारा सम्मानित पूजित नारदजी आसन पर विराज कर उनको वह सब वृत्तान्त बतलाया जैसा कि ऋषि श्रीनारायणजी के मुख से सुना था ॥४९॥

इत्येतद्वर्णितं राजन् यन्नः प्रश्नः कृतस्त्वया ।
यथा ब्रह्मण्यनिर्देश्ये निर्गुणेऽपि मनश्चरेत् ॥५०॥

अन्वय—राजन् त्वया यत् नः प्रश्नः कृतः अनिर्देश्ये निर्गुणे अपि ब्रह्मणि श्रुतिः यथा चरेत् तत् इति एतद् वर्णितम् ।

योऽस्योत्प्रेक्षक आदिमध्यनिधने योऽव्यक्तजीवेश्वरो
यः सृष्ट्वेदमनुप्रविश्य ऋषिणा चक्रे पुरः शास्ति ताः ।
यं संपद्य जहात्यजामनुशयी सुप्तः कुलायं यथा
तं कैवल्यनिरस्तयोनिमभयं ध्यायेदजस्रं हरिम् ॥५१॥

इति श्रीमद्भागवते दशमस्कंधे श्रुतिस्तुतिर्नाम सप्ताशीतितमोऽध्यायः ।

अन्वय—यः अस्य आदिमध्यनिधने उत्प्रेक्षकः यः अव्यक्तजीवेश्वरः । यः ऋषिणा (सह) इदं सृष्ट्वा अनुप्रविश्य च पुरः चक्रे ताः शास्ति । यथा सुप्तः कुलायं (तथा) यं सम्पद्य अनुशयी अजां जहाति । तं कैवल्यनिरस्तयोनिं अभयं हरिं अजस्रं ध्यायेत् ।

श्रीशुकदेवजी ने राजा परीक्षित से कहा कि—हे राजन् तुमने जो हमसे पूछा था, अनिर्देश्य निर्गुण ब्रह्म का प्रतिपादन श्रुतियाँ कैसे करती हैं, वह हमने आपको बतला दिया है। (अनिर्देश्य का यह भी तात्पर्य है कि—अः वासुदेवः, तेन निर्देश्य) ॥५०॥

यद्यपि वेदस्तुति की अट्ठाईस श्रुतियों में कई एक श्रुतियाँ ऐसी हैं जिनका तात्पर्य दिखाने में विभिन्न विभिन्न टीकाकारों का मतभेद हैं, किन्तु इस अन्तिम श्रुति का तात्पर्य अभिव्यक्त करने में सभी एक मत होकर कह रहे हैं कि समस्त वेद पुराणादि का सार वेदस्तुति है, जिनकी अट्ठाईस संख्या परि-

सर्वश्रुतिसमन्वितार्थस्योपसंहारात्मकेनैकेनैव श्लोकेन संचिनोति श्रीशुकः ॥ य इति योऽस्योत्प्रेक्षकः जीवानां सर्वपुरुषार्थसिद्धये विश्वस्य सृष्टिस्थितिलयादिप्रापणीयत्वेनालोचकः ॥ "स ऐक्षत बहुस्यां प्रजायेये"ति श्रुतेः यश्चास्यादिमध्यनिधने वर्त्तमानोऽव्यभिचारिकसत्ताक इति तत्रादौ कारणत्वेन मध्ये चाश्रयत्वेन अन्ते ह्यवधित्वेनेतिविवेकः। सर्वांल्लोकानीशते ईशनीभिः "य एवैक उद्भवे संभवे च य एतद्विदुरमृतास्ते भवंती"त्यादिमंत्रः ॥ किंचाव्यक्तजीवेश्वरः प्रकृतिजीवयोर्नियन्ता पुरुषोत्तमः ॥ "प्रधानक्षेत्रज्ञपतिर्गुणेश" इति मन्त्रः।

गणित की गई है, उस संख्या के निर्धारण का हेतु भी दिखाया गया है। इस वेदस्तुति का सार स्वरूप यह पद्य है। इसमें पूरा निष्कर्ष संगृहीत कर दिया है। श्रीतत्त्वप्रकाशिकाकार कहते हैं कि अट्ठाईस ही नहीं समस्त श्रुतियों के समन्वित अर्थ को इस उपसंहारात्मक एक ही श्लोक में श्रीशुकदेवजी संचित कर रहे हैं, जो इस दृश्यमान चराचरात्मक विश्व का उत्प्रेक्षक है, अर्थात् जीवों को धर्म अर्थ काम मोक्ष इन सभी पुरुषार्थों की सिद्धि के लिये विश्व की सृष्टि स्थिति और प्रलय करनेवाला आलोचक है। "स ऐक्षत बहुस्यां०" इत्यादि श्रुतियाँ इसी भाव को व्यक्त करती हैं। वह इस विश्व की आदि मध्य और निधन सभी स्थितियों में वर्तमान रहता है। उसकी सत्ता सदा सर्वदा रहती है। विश्व के आदि में कारण रूप से, मध्य में आधार आश्रय और अन्त में अवधि रूप से। इस मान्यता का आधार "सर्वान् लोकानीशते इशनीभिः", "य एवैक उद्भवे सम्भवे०" इत्यादि श्रुतियाँ भी हैं। यह अव्यक्त-प्रधान प्रकृति और जीवों का ईश्वर (शासक) है। इस आशय का "प्रधानक्षेत्रज्ञपति०" इत्यादि श्रुतियाँ और "यस्मात्क्षरमतीतोऽहं०" इत्यादि भगवद्गीता के

यस्मात्क्षरमतीतोऽहमक्षरादपि चोत्तमः। अतोऽस्मिलोके वेदे च प्रथितः पुरुषोत्तम" इति भगवदुक्तेश्च। यश्च ऋषिणा चतुर्मुखरूपेणेदं सृष्ट्वाऽन्तर्यामिसर्वज्ञरूपेण प्रविश्य पुरः शरीराणि तद्भोगसाधनानि चक्रे, ताश्च शास्ति जीवेन कृत्वा तत्तत्कर्मानुसारिणीः पुरः कृतवान्। अन्तर्यामिरूपेण च शास्ति जीवस्य भागं संपादयन् स्वयंपालयतीत्यर्थः "अन्तः प्रविश्य शास्ताजनानामि"त्यादि श्रुतेः। शरणापन्नानां तु गतिरेवेत्याह :—यं संपद्य प्राप्य अनुशयी पश्चात् शयनशीलः परिचर्यापरायणो जीवात्मा अजां जहाति ॥ "मामुपेत्य तु कौन्तेय पुनर्जन्म न विद्यते ॥" इति भगवदुक्तेः न स पुनरावर्त्तत" इति श्रुतेः अनावृत्तिः-

---

वचन प्रतिपादन करते हैं। ऋषि (चतुर्मुख ब्रह्मा) को प्रकट करके अन्तर्यामी (सर्वज्ञ) रूप से प्रविष्ट होकर सभी जीवों के भोग साधनरूप शरीरों की उत्पत्ति कर उनका शासन करता है। तात्पर्य यह है कि जीवों के जन्म-जन्मान्तरों के जैसे कर्म हैं उन्हीं कर्मों के अनुसार शरीरों का प्रादुर्भाव होता है और उन शरीरों में रहनेवाले जीवों का वही प्रभु पालन करता है। "अन्तः प्रविश्य शास्ता जनानां०" इत्यादि श्रुतियाँ इसी आशय की घोषणा करती हैं। जो प्रभु की शरण ग्रहण कर लेता है उसका तो उन्हें ही सब प्रकार से लालन-पालन करना पड़ता है—यह आशय इस पद्य के उत्तरार्ध के प्रथम पद से स्पष्ट किया गया है, कि जिस प्रभु को प्राप्त करके अनुशयी परिचर्या परायण जीव अजा-माया के फन्द से निकल जाता है। भगवान् ने स्वयं भी "मामुपेत्य तु कौन्तेय ?" इस वचन द्वारा भगवत शरणागत के पुनर्जन्म का निषेध किया है। "न स पुनरावर्तते०" यह श्रुति और "अनावृत्ति शब्दात्०" ब्र० सू० ४।४।२२ इस वेदान्त-सूत्र द्वारा भी इसी आशय की पुष्टि होती है।

शब्दादि"ति चरमन्यायाच्च । इतः पूर्वं च प्रपन्नस्यापि प्रारब्ध-कर्मसम्बद्धतया सर्वथा प्रकृतिसम्बन्धानिवृत्तौ सत्यामपि नेत-रेषामिव तत्तन्त्रत्वेन संसरणं किंतु तत्तद्दुःखसुखादिभोगवत्त्व-स्यान्यदृष्ट्यैव तथा भानम् । आत्मनः स्वातन्त्र्यकर्तृत्वादिलक्षणा-

---

भगवत्प्राप्ति के पूर्व तो प्रपन्न (शरणागत) का भी यद्यपि प्रारब्ध कर्मों को अवशेष रहने के कारण प्रकृति (माया) का सम्बन्ध पूर्णतया निवृत्त नहीं हो पाता, तथाऽपि अन्य संसारी (अप्रपन्न) जीवों की तरह कर्मों के आधीन उनका जन्म-मरण रूप संसरण नहीं होता ।

वैष्णव सिद्धान्त में जीवात्मा को स्वतन्त्रकर्ता नहीं माना जाता, यद्यपि परमात्मा को प्रेरक मानने से कोई जीव सुखी कोई दुःखी, कोई पुण्य कर्म करनेवाला कोई पाप करनेवाला" इस प्रकार की विषमता क्यों ? इस जिज्ञासा का समाधान "कर्म प्रधान विश्व करि राखा" है अर्थात् जीवों की प्रवृत्ति अपने जन्म-जन्मान्तरों के कर्मानुसार होती है । इस प्रत्युत्तर के पश्चात् इस जिज्ञासा का होना स्वाभाविक है कि जब कर्मों के अनुसार सभी जीव कर्म करते हैं, तब परमात्मा प्रेरक कैसे हुआ, तथाऽपि कर्मों के जड़ होने के कारण वे जीवों की प्रवृत्ति की व्यवस्था नहीं कर सकते अतः उनकी व्यवस्था करनेवाले प्रभु ही हैं अतः वे ही प्रवर्तक हुए ।

मुक्ति से पूर्व प्रपन्नों (शरणागतों) से भी प्रारब्ध कर्मों का सम्बन्ध रहता है, अतः सर्वथा प्रकृति से सम्बन्ध विच्छेद न होने के कारण प्रपन्नों का भी जन्म-मरण तो होता रहता है, किन्तु उनका वह जन्म-मरणरूप संसरण अन्य अभक्त जीवों जैसा कर्माधीन नहीं होता । क्योंकि उस संसरण में सुख-दुःख आदि सभी भोग अन्य दृष्टि से ही होते हैं । जब स्वातन्त्र्य कर्तृत्वरूप

वरणस्य भंगेन भगवत्प्रयोज्यत्वज्ञानवत्त्वादित्येतदर्थं बुद्धौ निधाय एतद्देहपातात् प्राक् तस्य वर्त्तने निदर्शनमाह सुप्तः-कुलायंयथा ।। यथा सुप्तः स्थूलशरीरं त्यजति तद्वत् । यावच्छरीर-संपात अनभिनिविष्टो वर्त्तत इति भावः ।। "तस्य तावदेव चिरं यावन्न विमोक्ष्ये अथ संपत्स्य" इति श्रुतेः तं परमेश्वरं ध्याये-दिति विधिः, "निदिध्यासितव्य" इति श्रुतेः । कथंभूतं कैवल्यं निरस्तयोनिं निरस्ता योनिः कारणं यस्य सः निरस्तयोनिः

आवरण का भंग होकर यह भावना दृढ़ हो जाती है कि भगवत्-प्रेरित होकर ही मैं शरीर छूटने तक कार्य कर रहा हूँ, इस आशय का ही कथन करने के लिये भगवती श्रुति दृष्टान्त द्वारा बत-लाती है :—जिस प्रकार गाढ़निद्रा (सुषुप्ति) में सोये हुए व्यक्ति को शरीर का भान नहीं रहता, क्योंकि उस समय जीवात्मा की परमात्मा के साथ सम्पत्ति हो जाती है । सुषुप्ति की तरह जब बारम्बार जन्म-मरणरूप संसरणवाला जीव अपने अन्तर्यामी प्रभु से सम्पन्न हो जाता है, निरन्तर तैलधारा की तरह अवि-च्छिन्नरूप से प्रभु की स्मृति बनी रहती है, तब अजा (त्रिगुणा-त्मिका प्रकृति) का सम्पर्क रहते हुए भी यह घातक नहीं होता, जैसे सुषुप्ति में शरीर रहने पर भी उसका भान नहीं होता । जब शरीर छूट जाता है तब उस प्रपन्न का मोक्ष हो जाता है । "तस्यतावदेवचिरं" यह श्रुति इसी आशय का समर्थन करती है ।

अतएव उस प्रभु का सदा ध्यान (निदिध्यासन) करते रहना चाहिये, श्रुति के चतुर्थपाद द्वारा ऐसा यह विधान किया गया है । कैवल्य और निरस्त योनि इन दो विशेषणों से वह युक्त है । निरस्तयोनि का तात्पर्य है उसका कोई कारण नहीं जैसा कि—"न तस्य कश्चित् जनिता" यह श्रुति प्रतिपादन करती है । "केवलो निर्गुणश्च" यह श्रुति भगवान् को केवल

कारणशून्यः, कैवल्यश्चासौ निरस्तयोनिश्चेति तथा ।। न तस्य कश्चिज्जनिता न चाधिपः केवलो निर्गुणश्चे"त्यादि श्रुतेः अभयं नभयं यस्मात् संसाररूपभयनाशकम् ।। "संसारबन्धस्थितिमोक्षहेतुरि"ति श्रुतेः ।। अजस्रं शाश्वतं क्रियाविशेषणं वा हरिं स्मृतिमात्रेण सर्वपापनिवर्त्तकं तथा चाह श्रीपराशरः ।। "अतिपापप्रयुक्तोपि ध्यायन्निमिषमच्युतम् । भूयस्तपस्वी भवति पंक्तिपावनपावन" इति । अत्र चाभिन्ननिमित्तोपादानकारणत्वप्रतिपादनेन समन्वयाध्यायाविरोधाध्यायार्थः, संगृहीतः । अजस्रं ध्यायेदित्यनेन साधनाध्यायार्थः, यं संपद्य जहात्यजाम् इत्यनेन

बतलाती है, केवल शब्द से ही कैवल्य बन जाता है। केवल और निर्गुण दोनों शब्दों का श्रुति में प्रयोग हुआ है। निर्गुण शब्द के सहकार से मायिक गुणों से निर्लिप्त अतएव भगवान् केवल (शुद्धस्वरूप) हैं। वे अभय हैं, उन्हें किसी का भय नहीं है क्योंकि वे सर्वेश्वर (ईश्वरों के भी ईश्वर) हैं। अभय शब्द से यह भी बोध होता है कि वे शरणागतों के भय को मिटा देते हैं। "संसार बन्ध स्थिति मोक्ष हेतुः०" यह श्रुति इस तात्पर्य को व्यक्त करती है।

सारांश यह है कि हरि (समस्त पापों को हरनेवाले प्रभु) का अजस्र (निरन्तर) ध्यान करते रहना चाहिये।

श्रीपराशरजी ने भी कहा है कि जो अत्यन्त पाप करनेवाला महापापी एक निमिष पलभर भी अन्तःकरण से प्रभु का स्मरण करता है वह पंक्ति पावन पावन महातपस्वी बन जाता है। इस श्रुति में परमात्मा को चराचर विश्व का अभिन्न निमित्तोपादान कारण बतलाया है, इससे ब्रह्मसूत्रों के समन्वय और अविरोध इन दोनों अध्यायों का सारांश आ जाता है। "अजस्रं ध्यायेत्" इस पद से साधन अध्याय और "यं सम्पद्य

फलाध्यायार्थश्चेति संपूर्णा चतुरध्यायिनी ब्रह्ममीमांसा श्रीशुकेनैकस्मिश्चश्लोके व्याख्यातेति भावः ।।५१।।

इति श्रीकृष्णतत्त्वप्रकाशिका ब्राह्मी उपनिषदिका श्रीकेशवकाश्मीरिकृता वेदस्तुतिटीका समाप्ता ।

जहात्यजां" इस पद से फलाध्याय (चतुर्थाध्याय) का तात्पर्य दिखा दिया गया है। इस प्रकार चारों अध्याय ब्रह्ममीमांसा का सार श्रीशुकदेवजी ने एक ही श्लोक में दिखा दिया है।

ब्राह्मी उपनिषत् वेदस्तुति पर श्रीकेशवकाश्मीरि कृत
श्रीकृष्णतत्वप्रकाशिका टीका पूर्ण हुई।

यद्यपि वेदस्तुति पर बहुत-सी संस्कृत टीकायें प्रकाशित अप्रकाशित रूप में उपलब्ध हो रही हैं। सभी टीकाओं की अपनी-अपनी विशेषतायें हैं। तत्त्वप्रकाशिका टीका भी अपना विशेष स्थान रखती है। वाराणसेय विद्वद्वर श्रीराममूर्तिजी पौराणिक कृत भक्तरंजिनी संस्कृत टीका इसी शताब्दी की अभिनव टीका कही जा सकती है। उन्होंने तत्वप्रकाशिका के कई एक सन्दर्भों को उद्धृत किया है, किन्तु टीकाकार का स्पष्ट नामोल्लेख न करके "केचित्तु" शब्द द्वारा ससन्मान अभिव्यक्त किया है। इसी श्रुति की टीका में निरस्तयोनि० और यं सम्पद्यजहात्यजां० इन दोनों वाक्यों के तत्वप्रकाशिकाऽनुसारी भावों का दिग्दर्शन करा दिया है। एक ही में नहीं और भी कई एक श्रुतियों की टोका में उन्होंने ऐसा किया है। यह उनकी सारग्राहकता ही कही जा सकती है।

❋ क्षमापनम् ❋

मासाऽष्टादश संजाताः, दिवसाश्च तत्संख्यकाः ।
आधिव्याधि प्रपञ्चेषु व्यतीता दैवयोगतः ॥१॥
नेत्रश्रुति नभोनेत्र मिताब्दे वैक्रमे शुभे ।
दशम्यां फाल्गुनसिते पुष्यभे शुक्रवासरे ॥२॥
भाषेयं सरला जाता पूर्णतां हरयेऽर्प्यते ।
प्रेरणा तु हरेरेषा तयैवोट्टङ्किता मया ॥३॥
प्रूफ संशोधने चात्र स्थानेषु वहवेषु हि ।
वर्णमात्रादि वैकल्यं, यतिष्वपिच तत्तथा ॥४॥
त्रुटयोऽत्र भविष्यन्ति वह्वचो धीस्खलनान्मम ।
विद्वद्भिः क्षम्यतां तास्तु शोध्यतां स्वानुकम्पया ॥५॥

× × × ×

गोविन्दगोपकुलभासकभास्करो यः,
रामश्च रावणविनाशनकौतुकोऽपि ।
वाराह-वामन-नृसिंह-सुविग्रहो यः,
तस्मै नमो भगवते व्रजबल्लभाय ॥१॥
सर्वत्र साश्वतविराजित भास्वरो यः,
भक्तेच्छया विविधरूपविधारको यः ।
दिव्यश्च देवगणपूजितपादुको यः,
तस्मै नमो भगवते व्रजवल्लभाय ॥२॥
वंशीधरोऽपिकरपल्लवमोदको यः,
देवोऽपि संश्रित चलाचलरंजको यः ।
हस्तैकमोदकधरश्च निरञ्जनो यः,
तस्मै नमो भगवते व्रजवल्लभाय ॥३॥

शुद्धाशुद्धि-पत्र

पृ०सं०	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
१	२	प्रणाम्य	प्रणम्य
२	२	आश्रथं	आश्रयं
२	२	रुन्द्रेद्रादि	रुद्रेन्द्रादि
८	६	वहुलाश्च	वहुलाश्व
९	५	अर्थप्रतिति	अर्थप्रतीति
९	२१	सामन्य	सामान्य
१९	७	घनञ्जय	धनञ्जय
२०	६	आत्माः	आत्मा
२१	१०	व्यक्तिकरण	व्यक्तीकरण
२७	४	शुश्लोकै	सुश्लोकै
२७	४	र्वोधयं	र्बोधयं
२७	६	दाषगृभात	दोषगृभीत
३१	६	बिकृतेः	विकृतेः
३३	२३	बाहिर	बाहर
५०	६	यर्थाथं	यथार्थं
५१	२२	बाहिर	बाहर
५२	१५	बाहिर	बाहर
५२	१९	इत्यदि	इत्यादि
५३	१६	परात्मात्मा	परमात्मा
५९	१०	अहोवत	अहोबत
६१	२३	अधिका	अधिक
६१	२४	श्रूयमण	श्रूयमाण
६७	१८	षष्टी	षष्ठी
७१	१०	स्वासप्रस्वास	श्वासप्रश्वास
७२	१६	सुधासब	सुधासव
७३	१९	अनिदेश्य	अनिर्देश्य

७७	२५	हानी	हानि
७९	४	सनिमितं	सनिमित्तं
७९	२५	निमित	निमित्त
८६	१९	शाक्षि	साक्षी
८९	१३	परमेश्वर	परमेश्वर
९१	९	ईत्यर्थः	इत्यर्थः
९२	१२	इक्षण	ईक्षण
९५	११	विज्ञैयः	विज्ञेयः
९५	१३	नैययायिक	नैय्यायिक
१०२	५	मघुनो	मधुनो
१०५	१३	उपनित्	उपनिषद्
११२	१७	कल्पनाओंवाले	कल्पनावाले
११३	४	यणाद्रुदो	यणादुद्रो
११८	१९	शान्त	सान्त
१२७	१६	खल्विसानि	खल्विमानि
१३३	२०	निन्द	निन्दा
१३६	२	भप्रन्त्य	फलन्त्य
१३६	५		"यत् श्रुतयः अतन्निरसनेन त्वयि हि भवन्ति" अन्तिम में इतना अंश छूट गया है।
१३८	८	वह्निन	वह्निना
१४१	८	समाम्न्याय	समाम्नाय
१५२	१६	साश्व	शाश्वत

इन सब शुद्धाशुद्धियों के अतिरिक्त और भी अशुद्धियाँ होंगी। उन्हें सुविज्ञ पाठक यथामति शुद्ध कर लें या करवा लेवें। बहुत-सी अशुद्धियाँ पुराने टाइपों की मात्रायें टूटने या घिस जाने से हुई हैं वकार बकार तथा जहाँ-तहाँ दन्ती स और तालव्य शकार आदि की भी हैं।

श्रोता लक्षणम्

★

यः स्थित्वाभिमुखं प्रणम्य विधिवत्
त्यक्तान्यवादो हरे-
र्लीलाः श्रोतुमभीप्सतेऽति निपुणो
नम्रोऽथक्लृप्ताञ्जलिः।
शिष्यो विश्वसितोऽनुचिन्तनपरः
प्रश्नेऽनुरक्तः शुचि,
र्नित्यं कृष्णजनप्रियो निगदितः
श्रोता स वै वक्तृभिः॥

(स्कान्दीय श्रीभागवत माहात्म्ये ४।२१)